मीमांसा दर्शन के प्रभाकर मतानुयायी

रामानुजाचार्य कृत तन्त्ररहस्य का अध्ययन

डॉ. सत्यकाम शर्मा

मीमांसा दर्शन के प्रभाकर मतानुयायी

रामानुजाचार्य कृत तन्त्ररहस्य का अध्ययन

-: ग्रन्थकारः :-

डॉ. सत्यकाम शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर

पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)

दिल्ली विश्वविद्यालय

नेहरू नगर, दिल्ली-110065

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

1 यू. बी. जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-110007

फोन : 011-23851570, 23850944, 09810910450

E-mail : bvpbooks@gmail.com

अन्य प्राप्तिस्थान :

भारतीय बुक कारपोरेशन

5824, न्यू चन्द्रावल, (शिवमंदिर के पास)

जवाहर नगर, दिल्ली-110007

फोन : 011-23851570

न्यू भारतीय विद्या प्रकाशन

पोस्ट बॉक्स 1108, सी.के. 32/30, नेपाली खपड़ा

वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)

फोन : 0542-2392376

E-mail : bbcbooks@gmail.com

© लेखकाधीन

संस्करण 2017

मूल्य : 500/- रुपये

ISBN : 978-81-217-0313-0

इस पुस्तक का कोई भी भाग किसी भी रूप में या किसी भी अर्थ में लेखक व प्रकाशक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता। सर्वाधिकार लेखक के अधीन है।

मुद्रक : आर.के.आफसेट प्रोसेस, दिल्ली।

समर्पण

स्व० गुरुवर डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
पूर्व उपकुलपति श्री ला०ब०शा०सं० विद्यापीठ
दिल्ली

जिन्होंने मेरे जीवन पथ को निष्कण्टक किया एवं निराशा की अन्धियारी में आलोक बनकर रास्ता दिखलाया। जिनके स्नेहाभिषिक्त आशीर्वाद और प्यार ने मुझे यहाँ तक पहुँचाया है। ऐसे गुरुचरणों को मैं स्मरण करके उनके प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त करता हूँ। यह ग्रन्थ भी उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

कृतज्ञता

महर्षि जैमिनि प्रणीत मीमांसादर्शन भारतीय आस्तिक दर्शनों में ज्ञान और कर्मकाण्ड की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट कृति है। वेदार्थ विचार एवं धर्म ज्ञान के लिए इसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस दर्शन में सम्पूर्ण कर्मकाण्ड को व्यवस्थित रूप दिया गया है जो ऋषिप्रवर जैमिनि के अलौकिक बुद्धि कौशल का प्रतीक है। यह शास्त्र ज्ञान और कर्म सम्बन्धी संशयों को दूर करके विरोधों का परिहार करता हुआ नि:श्रेयस को प्राप्त कराता है।

सर्वप्रथम विराट-रूप प्रभु की दिव्यशक्तियों का ध्यान करके द्वादशलक्षणी के प्रवर्तयिता भगवच्चरण महर्षि जैमिनि तथा मीमांसा के मूल्यों के महान् गवेषक बृहती के रचयिता प्रभाकर गुरु को मैं श्रद्धापूर्वक याद करता हूँ। स्व० मातृ-पितृ चरणों को भी श्रद्धा समर्पित करता हूँ।

विनयावनत
सत्यकाम शर्मा वेदालङ्कार

विषय-प्रवेश

आचार्य पाराशर एवं व्यास वादरायण के समकालिक आचार्य जैमिनि ने कर्मकाण्ड से सम्बन्धित पूर्वाचार्यों के पूर्व यज्ञ एवं उत्तर पक्ष का आकलन करते हुए १२ अध्यायों में मीमांसा दर्शन की रचना की है। शबर स्वामी ने अपने भाष्य के द्वारा अधिकरण शैली में विभिन्न मन्तव्यों का स्पष्टीकरण करने का स्तुत्य प्रयास किया है। शबर भाष्य के दो कालजयी व्याख्याकार हुए हैं जिनमें कुमारिल का प्रस्थान भाट्टमत से और प्रभाकर का प्रस्थान गुरुमत से प्रसिद्ध हुआ है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका के माध्यम से सूत्रकार एवं भाष्यकार के मन्तव्यों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। प्रभाकर ने लघ्वी एवं बृहती के शीर्षक से भाष्यकार के मत का विवेचन प्रस्तुत किया है।

कुमारिल एवं प्रभाकर के सम्प्रदाय से कई यशश्री ग्रन्थकर्ता हुए हैं। जिन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर प्रस्थानद्वय के निष्कर्षों में उपलब्ध होने वाली विभिन्नताओं को सशक्त तर्कों के द्वारा पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है। भाट्ट प्रस्थान में सर्वाधिक आदरास्पद नाम पार्थसारथि मिश्र का है और प्रभाकर प्रस्थान में आचार्य शालिकनाथ का है- वस्तुतः इन्हीं दोनों की कृतियों के आधार पर प्रस्थानद्वय का प्रासाद अवलम्बित है।

'रामानुजाचार्य कृत तन्त्ररहस्य' में प्रभाकर सम्मत विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है। रामानुजाचार्य ने सम्भवतः जैमिनि के मीमांसा सूत्रों पर एक विस्तृत टीका लिखी थी जिसकी तन्त्ररहस्य एक भूमिका मात्र है। तब तक की खोज में इस ग्रन्थ के केवल ५ अध्याय उपलब्ध हैं जिनमें कि ग्रन्थकार अपनी गुरु परम्परा को मङ्गलाचरण के श्लोकों के माध्यम से यह प्रतिज्ञा करता है कि इस ग्रन्थ में वह गुरु-मत के अनुसार कतिपय प्रमुख विषयों का - जो कि प्रमाण एवं प्रमेय से सम्बद्ध होंगे,

विवेचन करेगा। वस्तुतः इस विवेचन के प्रसंग में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रभाकर सम्मत सिद्धान्त के विवेचन के मूल में पूर्वाचार्य बादरि के सिद्धान्त हैं। आचार्य शालिकनाथ ने प्रभाकर कृत बृहती पर लिखी गई ऋजुविलमा नामक टीका में इसका स्पष्ट संकेत किया है।

आचार्य रामानुज ने अपने इस ग्रन्थ में गुरुसम्मत मत का अल्पाक्षर में ही विवेचन करने का संकल्प किया है अतः ग्रन्थ की जटिलता स्वाभाविक हो गई है।

तन्त्ररहस्य - रामानुजाचार्य कृत 'तन्त्ररहस्य' भाट्ट एवं प्रभाकर - दोनों के सिद्धान्तों को जानने के लिए सर्वोत्तम कृति है- इसीलिए विद्वान लोग इसे मीमांसाशास्त्र का प्रवेशद्वार मानते हैं। यह रचना वस्तुतः तो गुरुमतानुसारी ही हैं आलोचनात्मक दृष्टि से विषय को विशद्रूप से स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने कुमारिल के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग करते हुए बड़े आदर के साथ उनकी मान्यताओं का अनुवाद स्थान-स्थान पर किया है- जहाँ मतभेद हुआ- वहाँ ग्रन्थकार ने युक्तिपूर्वक कुमारिल का निरास करके प्रभाकर परम्परा को पुष्ट किया है। तन्त्र रहस्य के विषय में ग्रन्थकार स्वयं लिखते हैं-

'कहीं पर भिन्नता से युक्त तो कहीं अभिन्नता से युक्त, कहीं पर विरोध करने वाली तो कहीं पर विरोध न करने वाली - सिद्धान्तद्वय की परम्परा और गुरूक्त रीति से तन्त्ररहस्य का विस्तार किया जा रहा है।'

तन्त्ररहस्य का अर्थ - 'तन्त्र' शब्द के अनेक अर्थ हैं - यहाँ पर प्रसङ्गानुसार 'तन्त्र' का अभिप्राय सिद्धान्त से है। सिद्धान्तगत जो रहस्य हैं उनका प्रतिपादन एवं प्रतिष्ठापन इस ग्रन्थ में किया गया है।

समय - श्री के०एस० रामास्वामी शास्त्री ने विभिन्न प्रमाण और तर्कों के आधार पर इस ग्रन्थ का समय १५०० (पन्द्रह सौ) ईस्वी निश्चित किया है।

शैली - यह ग्रन्थ शालिकनाथ मिश्र कृत प्रकरणपञ्चिका पर पूर्णतः आधारित है। ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र की तर्कों से अत्यन्त प्रभावित थे-

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थलों में ग्रन्थकार उनकी आलोचना का उत्तर देते दिखाई पड़ते हैं। अङ्ग निर्णय को छोड़कर उन्हीं के (न्या०र०मा०) ग्रन्थ में वर्णित विषयों से मिलते-जुलते विषयों का ग्रन्थकार ने प्रभाकर गुरु की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखते हैं कि - पूर्व पूर्व कृतियों में प्रपञ्चित प्रमाण प्रमेयादि के तत्त्व निर्णय को ही मैं विद्वानों की प्रीति के लिए गुरुतन्त्र के आधार पर संक्षिप्त करके प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह ग्रन्थ ५ परिच्छेदों में विभक्त है- जिनमें क्रमशः प्रमाण, प्रमेय, शब्द, शास्त्रप्रमेय और शास्त्रारम्भ पर विचार किया गया है।

शोध की दृष्टि से यह ग्रन्थ आज तक अस्पृश्य रहा है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस ग्रन्थ के अध्ययन का एक विनम्र प्रयास किया है- जो गुरुजनों के आशीर्वाद से सम्पन्न हो पाया है।

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में मङ्गलाचरण, पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रशंसा एवं कृतज्ञता ज्ञापन पूर्वक प्रमाणों पर विचार किया गया है। स्मृति का प्रामाण्य निरास करते हुए 'अनुभूति' को ही प्रमाण का लक्षण सिद्ध किया है। इससे पूर्व इतर दर्शनों में प्रमा और प्रमाण लक्षण का भी प्रसंगवश सामान्य दृष्टिपात किया है तत्पश्चात् प्रभाकर अनुगामी रामानुजाचार्य के अनुसार प्रमा और प्रमाण लक्षण विस्तार से विवेचित हुआ है। तदनन्तर याथार्थ्य के सर्वज्ञान साधारण होने की पुष्टि की गई है।

इसके बाद कुमारिल सम्मत प्रमाण लक्षण एवं प्रामाण्याप्रामाण्यगत स्वतस्त्व परतस्त्व विषयक विभिन्न विकल्पों, को दिखाकर उन सबका निराकरण किया है अन्ततः अनुभूति को प्रमाण लक्षण और स्वतः प्रामाण्य को दृढ़ किया है।

प्रमाण-सङ्ख्या विभाजन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने हैं। 'अभाव-आधिकरण' स्वरूप होने से उसका निराकरण किया है।

प्रत्यक्ष लक्षण में न्यायमत का निरास करते हुए साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष का लक्षण उपस्थापित किया है। सविकल्पक-प्रत्यक्ष को विशिष्ट-विषयक एवं निर्विकल्प को स्वरूप-विषयक सिद्ध किया है।

अनुमान प्रमाण के वर्णन में- इसका लक्षण, लक्षक पदों पर विचार, व्याप्ति ग्राहक निर्णय, स्वार्थ परार्थ भेद द्वय - इन सब पर विमर्श करते हुए प्रतिज्ञादि प्रारम्भ के तीन अवयव ही अनुमान के साधक सिद्ध किये हैं। इतर अवयवों को अनावश्यक विस्तार बताया है।

उपमान का लक्षण एवं उसका प्रमाणान्तरान्तर्भाव का निराकरण किया गया है।

अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव का निरास दिखाते हुए इसे सन्देह का व्यावर्तक प्रमाण माना गया है। प्रस्तुत प्रमाण की प्रवृत्ति-विषयक मतभेदों का खण्डन करते हुए दृष्टार्थापत्ति में ही श्रुतार्थापत्ति का अन्तर्भाव किया है- श्रुतार्थापत्ति अलग से भेद नहीं।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में प्रमेयों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सङ्ख्या और सादृश्य - इन आठ पदार्थों का उपस्थापन करके इनके विषय में क्रमशः ग्रन्थकार की निजी मान्यताओं का आकलन किया गया है।

नवद्रव्यों में पृथिवी को शरीरारम्भक तथा वायु को प्रत्यक्ष सिद्ध किया गया है। वृक्षादि के शरीरत्व का खण्डन करते हुए आत्मा के मानस प्रत्यक्ष-वेद्यत्व का निराकरण किया गया है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन - इन नौ द्रव्यों से अतिरिक्त 'तम' नामक कोई द्रव्य नहीं है।

गुणों के विषय में ग्रन्थकार न्याय वैशेषिक को ही प्रमाण मानते हैं। कर्म को संयोग विभाग द्वारा अनुमेय सिद्ध किया है। जाति के विषय

में कुमारिलाभिमत भेदाभेद का खण्डन करके ग्रन्थकार के अनुसार जाति और व्यक्ति को समवाय से सम्बद्ध माना है। तदनुसार जब व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है तब जाति भी उसमें गम्यमान होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात सिद्ध की गई है। जाति की प्रतीति पूर्वाकाराविमर्श से होती है। **'सत्ता'**, **'जाति'** और **'विशेष'** का खण्डन किया गया है।

समवाय नित्य और अनित्य दोनों ही प्रकार का होता है। ग्रन्थकार के आधार पर शक्ति गुण नहीं - अलग से द्रव्यसिद्ध है कार्य के प्रति अभाव कारण नहीं है - शक्ति है। इस शक्ति का अनुमान कार्य के द्वारा होता है। इसी प्रकार सङ्ख्या और सादृश्य को भी अलग से पदार्थ के रूप में स्थापित किया गया है।

सम्पूर्ण प्रमेयजात, भोक्ता, भोगायतन, भोग साधन, भोग्य और भुक्ति - इन पाँच कोशों में समाहित माना गया है।

मोक्ष को विलक्षण पुरुषार्थ बताते हुए मोक्षाधिकारी आदिं का रहस्यप्रतिपादन किया गया है अन्त में मोक्ष विषयक इतरमतों का प्रत्याख्यान करके पुण्यापूण्य क्षीण होने पर आत्यन्तिक देह विच्छेद को शालिकनाथ के अनुसार 'मोक्ष' सिद्ध किया है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय में शब्द प्रमाण के रहस्यों को उजागर किया गया है। सर्वप्रथम शब्द प्रमाण का लक्षण करके शास्त्र को ही लौकिक वचन से विलक्षण शब्द-प्रमाण सिद्ध किया है तथा लौकिकवचनों को अनुमानगम्य प्रस्तुत किया गया है। जैमिनी सूत्र को उद्धृत करके औत्पत्तिक शब्द का पद-अर्थ विश्लेषण करके शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य और अपौरुषेय ठहराया गया है। वर्णों का नित्यत्व प्रतिपादन करते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध में अपौरुषेयत्व सम्बन्धी विवादों का परिहार किया गया है।

पद और वाक्य से अर्थ प्रतीति के विषय में वैयाकरण मत एवं इतर मतों का परिहार करते हुए अन्त्यवर्णमात्र वाचकत्ववादी नैयायिकों एवं

अभिहितान्वयवादी कुमारिल के मतों का प्रत्याख्यान करके प्रभाकराभिमत अन्विताभिधान को परिपुष्ट किया गया है। इसमें विभिन्न विवादों का परिहार किया गया है।

इसके बाद आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता का लक्षण एवं परीक्षण करते हुए उनका परस्पर कार्यकारणभाव भी प्रस्तुत किया है। अन्विताभिधान और अभिहितान्वय - इन दोनों में क्रमशः लाघवगौरव चर्चा करते हुए अन्विताभिधान का औचित्य प्रतिपादित हुआ है। 'जरद्गवो गायति' इत्यादि वाक्य दृष्टान्त से समस्त पदों में अर्थासंस्पर्शत्व शङ्का और उसका परिहार किया गया है।

तदनन्तर लौकिक वाक्य लिङ् से बोधक माने जाने पर उनकी अनुपपत्ति का परिहार तथा लौकिक वाक्यों के स्वतः प्रामाण्य की शङ्का वक्तृ-ज्ञानानुमान से उनके प्रामाण्य के व्यवस्थापन से समाहृत हुई है। वेद के पौरुषेय होने की शङ्का का परिहार करके अपौरुषेयत्व स्थापित किया गया है। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि वाक्यों में अर्थबोध तो होता है लेकिन यागादि कर्म के बाद फलप्राप्ति न होने से अप्रामाण्य की शङ्का होती है, उसका परिहार किया गया है।

इसके बाद शास्त्र-द्वैविध्य, प्रत्यक्षशास्त्र वेद का स्वरूप, अन्य लौकिक शास्त्र की अनुमेयता, दोनों ही शास्त्रों की असन्निकृष्ट विषयता एवं वैदिक शब्दों की कार्यपरक व्युत्पत्ति - जैसे विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है।

अन्त में सिद्धार्थपरक शङ्का का सर्वत्र पदों की कार्यपरता से परिहार करते हुए शब्दरहित अर्थ और ज्ञान में अशास्त्रतत्व रूप ग्रन्थकार की मान्यता को रखते हुए- प्रस्तुत अध्याय के प्रमुख विषयों से उपसंहार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

यह अध्याय विधि विषयक है। इसमें सर्वप्रथम ग्रन्थकार प्रतिज्ञा अथवा सिद्धान्त स्थापन के रूप में अपूर्व रूप कार्य को ही शास्त्र का

प्रमेय घोषित करते हैं। एक दर्जन से भी अधिक दार्शनिक विधि का भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यान करते हैं- उनका संक्षेप में मत दिखाकर ग्रन्थकारभिमत अपूर्व ही विधि का अर्थ है - यह स्थापित किया गया है क्योंकि सम्पूर्णशास्त्र कार्यपरक है।

इसके उपरान्त 'अभिधाभावनामाहु' वार्तिककार की इस कारिका का अर्थ करते हुए विधि-विवेककार मण्डनमिश्राभिमत इष्टसाधना को विध्यर्थ के रूप में रखकर उसका अनुभव विरुद्ध होने से खण्डन किया गया है। स्वयं भाट्ट मतानुयायी पार्थसारथि मिश्र ने संवित्-विरोध दिखा कर उसको दोषयुक्त ठहराया है। इसी प्रकार इष्ट-साधनता और कृति-साध्यतत्व को विधि का अर्थ मानने वाले वाचस्पति मिश्र का भी परिहार किया गया है साथ ही प्रत्यय मात्र को विध्यर्थ मानने वालों को भी निरस्त कर दिया गया है।

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार लिङादिप्रत्यय द्वारा जो व्यापार है वही विधि रूप है। इस विषय में ग्रन्थकार शालिकनाथ द्वारा किये गये निराकरण का संकेत (एतन्मतमस्मदीयैरेव दूषितम्) करते हुए किनारे हो जाते हैं।

तदनन्तर एक ही प्रत्यय से भावनाद्वय के वाचक वार्तिककार के वचन को दुर्घट होने से खण्डित करके सभी आख्यातों की करोत्यर्थता का विरोध दिखाया गया है तथा लिङादि के विधि होने का भी प्रत्याख्यान किया है। इसके बाद कुमारिलाभिमत इष्टसाधनत्व को विधि मानने का खण्डन किया है। ग्रन्थकार के अनुसार अपूर्व कार्यत्व का निर्णय करते हुए अपूर्व को ही विधितत्व के रूप में समर्थन दिया गया है। कर्म नष्ट होने वाला होने से - अपूर्व का ही व्यवस्थापन किया गया है।

इसके पश्चात् अलौकिक कार्य की लोक से व्युत्पत्ति, इष्टसाध नता के ज्ञान के प्रवर्तकत्व, क्रिया या भावनागत इष्ट साधनता को विधि मानना, इष्ट साधनता को ही कार्यता या प्रवृत्ति हेतुता मानना, इच्छा या

प्रैषादि को लिङादि का वाच्य मानना, फल को वाक्यार्थ मानना - इन सबका ग्रन्थकार के अनुसार खण्डन किया गया है।

आगे कार्यता में अप्रवर्तकत्व की शङ्का-समाधान, नित्यकर्मों के अभाव में दोषाभाव, काम्यों का अफलार्थत्व, सम्पूर्ण वेद का कार्यपरक होना, अपूर्व की नियोगादि चार अवस्थाएँ - इन सब पर विचार किया गया है। कुमारिलाभिमत श्येनयाग का प्रत्याख्यान करके उसके अनर्थकत्व का विवेचन किया है।

अन्त में अपूर्वों का प्रयोजकत्व, धात्वर्थ का कृतिकार्यान्वयित्व, विषयकरणीय, गुरुमतानुसार शास्त्रार्थान्वयप्रकार, ग्राहक-ग्रहण, सन्निपत्यारादुपकारकान्वय भेद एवं प्रयाजादि का समुच्चय से अन्वय - इन गुरुमताभिमत मान्यताओं को रखते हुए अध्याय का उपसंहार किया गया है।

पञ्चम अध्याय

प्रस्तुत अध्याय में शास्त्रारम्भ विषयक विचार किया गया है इसलिए इसे 'शास्त्रारम्भ अध्याय' कहा जा सकता है। द्वादशलक्षणी के रचयिता महर्षि जैमिनि के सूत्र के आधार पर ग्रन्थकार के अनुसार वेदाध्ययन के बाद नियमतः मीमांसा-विचार करना चाहिए। इस प्रतिज्ञा वाक्य पर ही इस अध्याय की स्थापना हुई है।

सर्वप्रथम ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित शास्त्र-लक्षण, धर्म-ज्ञान में मीमांसा शास्त्र की सापेक्षता एवं मीमांसा शास्त्र की परिभाषा - इन तीन बातों पर विचार किया गया है। इसके बाद देवताओं के तर्पण से प्राप्त आयु इत्यादि अर्थवादादिक ही भाव्य होने से तथा विश्वजिन्नय से स्वर्ग भाव्य होने से अध्ययन के बाद धर्म-जिज्ञासा का नियम न दीखने से मीमांसा अनारम्भणीय रूप पूर्व पक्ष के विकल्पों पर विचार किया गया है।

तदनन्तर ग्रन्थकार द्वारा पूर्वपक्ष के विकल्पों का निरसन दिखाते हुए- तव्य प्रत्यय द्वारा स्वाध्याय का भाव्यत्व एवं अध्ययन विधि के नियामकत्व का प्रतिपादन प्रस्तुत किया है।

इसके बाद व्रत-नियमादि का अध्ययनाङ्गत्व, स्नानविधान, जिज्ञासात्रय, प्रभृति पर विचार हुआ है। तत्पश्चात् अध्ययनविधि को अपूर्वविधि मानने वाले कुमारिल मत को दिखाते हुए अध्ययन से अर्थज्ञानार्थत्व मानने पर विधिर्थ्य होने का परिहार किया गया है।

आगे अध्ययनविधि के आर्थिक नियमों का वर्णन, अत्रैवर्णिकों के अध्ययनाधिकार निरास, अध्ययन के अर्थ ज्ञानार्थत्व मानने पर अनर्थक 'हूँ फट्' - आदि में अव्याप्ति की शङ्का तथा समाधान, अश्वमेधादि क्षत्रियों के लिए होने से ब्राह्मण आदि के अध्ययन की शङ्का और समाधान - इत्यादि पर चर्चा हुई है।

अन्त में अध्ययन-विधि में प्रयोजनाधिक्य से होने वाले वैरूप्य का परिहार, अध्ययन का स्वाध्याय से संस्कारत्व और उसका परिहार, उपनीय-इत्यादि वचन पर शङ्का एवं समाधान करते हुए सिद्धान्ततः मीमांसा शास्त्र के आरम्भणीयत्व की स्थापना की गई है।

- *सत्यकाम शर्मा वेदालङ्कार*

शब्द-सङ्केत-सूची

अ०सं०	–	अर्थ संग्रह
गु०स०प०नि०	–	गुरुसम्मतपदार्थ निरूपण
त०चि०	–	तत्वचिन्तामणि
त०भा०	–	तर्कभाषा
त०सं०	–	तर्कसंग्रह
त०सं०दी०	–	तर्कसंग्रहदीपिका
तं०र०	–	तन्त्ररहस्य
द्र०	–	द्रष्टव्य
नय०वि०	–	नयविवेक
न्या०कु०	–	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या०मं०	–	न्यायमञ्जरी
न्या०र०	–	न्यायरत्नमाला
न्या०सि०मु०	–	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या०सि०	–	न्यायसिद्धि
न्या०सू०	–	न्यायसूत्र
प०दी०	–	पदार्थदीपिका
प०ध०सं०	–	पदार्थधर्मसंग्रह
परि०	–	परिच्छेद
पा०यो०द०	–	पातञ्जलयोगदर्शनम्
पृ०	–	पृष्ठ
प्र०परि०	–	प्रथम परिशिष्ट
प्र०प्र०	–	प्रथम प्रकरण
प्र०पा०	–	प्रशस्तपादभाष्य
प्र०पं०	–	प्रकरणपञ्चिका
प्र०मी०	–	प्रमाणमीमांसा
प्र०वा०	–	प्रमाण-वार्तिक

प्र०वि०	–	प्रभाकर विजय
बृ०पा०भा०श०सं०	–	बृहत् पारिभाषिक-शब्दसंग्रह
भा०	–	भाट्टार्कः
भा०अ०वि०	–	भारतीय अर्थविज्ञान
भा०चि०	–	भाट्ट-चिन्तामणि
भा०द०प०	–	भारतीयदर्शन परिचय
भा०द०	–	भारतीयदर्शन
भा०न्या०शा०	–	भारतीय न्यायशास्त्र
मा०मे०	–	मानमेयोदय
मी०न्या०	–	मीमांसा-न्यायप्रकाश
ल०मा०	–	लक्षणमाला
वा०मातृ०	–	वाक्यार्थ मातृका
वे०परि०	–	वेदान्त-परिभाषा
वै०सू०	–	वैशेषिक-सूत्र
वै०सूत्रो०	–	वैशेषिक सूत्रोपस्कार
व्या०भा०	–	व्यासभाष्य
व्या०वा०	–	व्याप्तिवाद
शा०दी०	–	शास्त्रदीपिका
शा०भा०	–	शाबर-भाष्य
श्लो०वा०	–	श्लोक-वार्तिक
स०प०	–	सप्तपदार्थी
सू०	–	सूत्र
सां०त०को०	–	सांख्यतत्वकौमुदी
सां०द०	–	सांख्यदर्शन
सां०प्र०भा०	–	सांख्य प्रवचनभाष्य

विषयानुक्रमणिका

कृतज्ञता ज्ञापन 1

विषय-प्रवेश 2-10

शब्द-संकेत-सूची 11-12

विषयानुक्रमणिका 13-21

प्रथम अध्याय : प्रमाण-रहस्य 22-73

१. कुमारिल सम्प्रदाय में प्रमा का स्वरूप
२. प्रभाकर परम्परा में प्रमा
३. प्रमाण स्वरूप विचार
४. तन्त्ररहस्य में प्रतिपादित प्रमाणलक्षण परीक्षण
५. स्मृति प्रामाण्य विचार
६. याथार्थ्य का सर्वज्ञानसाधारण्य : समस्या और समाधान
७. पूर्वपक्ष का संशय
८. रामानुजकृत समाधान
९. कुमारिलभट्ट का मत एवं उसकी परीक्षा
१०. विज्ञानवादी मत की परीक्षा
११. स्वप्न
१२. संशय
१३. तन्त्ररहस्य में प्रतिपादित प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विचार
१४. कुमारिल सम्मत प्रमाणलक्षण
१५. कुमारिलभट्ट सम्प्रदाय में प्रामाण्याप्रामाण्य का स्वतत्व और परतस्त्व
१६. स्वतस्त्वपरतस्त्व की व्याख्या के विकल्प
१७. रामानुज द्वारा भाट्ट मत में दोष की उद्‌भावना
१८. प्रतीति प्रकार
१९. प्रतीति का स्वयं प्रत्यक्ष के रूप में प्रकाशत्व

२०. प्रमाण विभाग
२१. प्रत्यक्ष लक्षण विमर्श
२२. नैयायिकाभिमत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन
२३. साक्षात्व स्वरूप तथा उसकी परीक्षा
२४. प्रत्यक्ष विभाग
२५. निर्विकल्पक स्वरूप-विश्लेषण
२६. सविकल्पक विशिष्ट-विषयता वाला है
२७. प्रमाण फल विभाग
२८. अनुमानलक्षण परीक्षण
२९. व्याप्ति-ग्राहक निर्णय
३०. सम्बन्ध नियम में अस्वाभाविकत्ववादी मत का निरास
३१. अनुमान विभाग
(i) स्वार्थानुमान
(ii) परार्थानुमान
३२. प्रतिज्ञा आदि तीन ही अवयव
३३. वैधर्म्य दृष्टान्त का अनुमानाङ्गत्व
३४. अनुमान का फल
३५. उपमान-लक्षण
३६. अन्य प्रमाणों में इसका अन्तर्भाव का निषेध
३७. नैयायिक मान्यता का निरास
३८. अर्थापत्ति प्रमाणविवेचन
३९. अर्थापत्ति के भेद के विषय में रामानुज का मत
४०. अभाव
४१. रामानुज द्वारा अभावविवेचन और उसका खण्डन

द्वितीय अध्याय : प्रमेय-रहस्य 74-150

१. कुमारिलभट्ट का मत
२. प्राभाकर अभाव को नहीं मानते
३. प्राभाकरों के मत में पदार्थ

४. द्रव्य निरूपण
५. पृथिवी
६. रामानुजाचार्य के अनुसार इतर मूत शरीरारम्भक नहीं
७. शरीर भेद गवेषण
८. वृक्षादि को शरीर मानने वालों का रामानुजाचार्य द्वारा खण्डन
९. तेज
१०. वायु-
(i) न्या०वै० के अनुसार वायु का अनुमान
(ii) कुमारिलभट्ट के अनुसार वायु का त्वचा से प्रत्यक्ष
११. तं०र०कार रामानुज के अनुसार प्रत्यभिज्ञा द्वारा वायु का प्रत्यक्ष
१२. आकाश
१३. आकाश का लक्षण
१४. वैशेषिकों द्वारा परिशेषानुमान से आकाश की सिद्धि
१५. कुमारिलभट्ट के मत में आकाश की प्रत्यक्षता
१६. प्रभाकर मत में आकाश की अनुमेयता
१७. काल
१८. कुमारिलभट्ट के मत में काल की प्रत्यक्षता
१९. नैयायिक जयन्तभट्ट के मत में काल की अनुमेयता
२०. प्राभाकर मतानुसार काल प्रत्यक्षसिद्ध नहीं, अनुमेय है
२१. दिक्
२२. दिक् सिद्धि निरूपण
२३. कुमारिलभट्ट के मत में दिक् की सिद्धि
२४. प्रभाकर-मत निरूपण
२५. दिक् और काल में अन्तर
२६. आत्मा
२७. शरीर आत्मा नहीं
२८. इन्द्रियाँ आत्मा नहीं

२९. मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता
३०. प्राण भी आत्मा नहीं
३१. बुद्धि आत्मा नहीं
३२. कुमारिलभट्ट के अनुसार आत्मा
३३. कुमारिल के अनुसार आत्मा मानस-प्रत्यक्षगम्य
३४. रामानुजाचार्य द्वारा कुमारिल का खण्डन
३५. रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा की प्रतीति
३६. तन्त्ररहस्यकार द्वारा त्रिपुटी-प्रत्यक्ष का निरूपण
३७. रामानुजाचार्य द्वारा आत्मा के कर्म होने का खण्डन
३८. प्राभाकराभिमत त्रिप्रकारता में प्रसंगतः - ज्ञान निरूपण
३९. रामानुजाचार्य के मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश
४०. प्रभाकर मतानुसार ज्ञानप्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं
४१. आत्मा अणु नहीं - विभु है
४२. मन
४३. मन का अनुमान
४४. भाट्ट मतानुसार मन विभु है
४५. विभु द्रव्यों का संयोग
४६. प्राभाकर मतानुसार मन का निरूपण
४७. नन्दीश्वर के मत में मन
४८. मन के विभुत्व का खण्डन
४९. शालिकनाथ मिश्र के अनुसार मन
५०. रामानुज के अनुसार 'तम' द्रव्य नहीं
५१. गुण-गवेषण
५२. लक्षण
५३. गुणों की सङ्ख्या
५४. प्रभाकर मतानुसार गुणों की सङ्ख्या
५५. गुणों का क्रमशः सामान्य वर्णन-

१. रूप, २ रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. परिमाण, ६. पृथक्त्व, ७. संयोग, ८. विभाग, ९-१०. परत्व और अपरत्व, ११. गुरुत्व, १२. द्रव्यत्व, १३. स्नेह, १४. संस्कार, १५. शब्द, १६. बुद्धि, १७. सुख, १९. दुःख, १९. इच्छा, २०. द्वेष, २१. प्रयत्न, २२. धर्माधर्म

५६. कर्मस्वरूप प्रतिपादन
५७. कर्म की परिभाषा
५८. कुमारिलभट्ट के मत में कर्म
५९. ग्रन्थकार रामानुजाचार्य के अनुसार कर्म
६०. कर्म के सम्बन्ध में ब्राह्मण वाक्य
६१. ग्रन्थकार के अनुसार कर्म विधेय भी है
६२. सामान्य (जाति)
६३. रामानुजाचार्य के मत में जाति की परिभाषा
६४. अनुवृत्ति की अनुभूति एवं जाति प्रत्यभिज्ञा
६५. कुमारिलभट्ट का भेदाभेद सिद्धान्त
६६. कुमारिल मत का खण्डन
६७. रामानुजाचार्य के अनुसार जाति और व्यक्ति में भेद
६८. जाति व्यक्ति सम्बन्ध विचार
६९. प्रभाकर एवं ग्रन्थकार रामानुजाचार्य के अनुसार जाति और व्यक्ति-सम्बन्ध
७०. रामानुजाचार्य के अनुसार जाति की प्रत्यक्ष सिद्धि
७१. जाति का ग्रहण : संयुक्त समवाय
७२. तन्त्ररहस्यकार के अनुसार जाति की प्रतीति पूर्वाकारावमर्श से
७३. जाति-उपाधि विवेचन
७४. सत्ता सामान्य का खण्डन
७५. ब्राह्मणत्व आदि जाति नहीं
७६. ग्रन्थकार द्वारा वैशेषिकों के विशेष का निराकरण
७७. समवाय स्वरूप विश्लेषण

७८. प्रभाकर परम्परा में समवाय
७९. रामानुजाचार्य के अनुसार प्रभाकर मत की पुष्टि
८०. दो नित्य पदार्थों में समवाय
८१. दो अनित्य पदार्थों में समवाय
८२. नित्य और अनित्य पदार्थों में समवाय
८३. समवाय की उत्पत्ति और अनुमान
८४. शक्ति
८५. ग्रन्थकार द्वारा शक्ति की स्थापना
८६. शक्ति की द्विविध गति – रामानुजाचार्य मत
८७. भवनाथ मिश्र
८८. भाट्ट सम्मत शक्ति स्वरूप निरूपण
८९. शक्ति खण्डन – नैयायिक मत
९०. प्राभाकरों द्वारा नैयायिक मत का खण्डन
९१. शक्ति युक्त अग्नि ही दाह का कारण
९२. संख्या
९३. न्यायवैशेषिक के अनुसार
९४. कुमारिलभट्ट के अनुसार सङ्ख्या
९५. ग्रन्थकार के मत में सङ्ख्या एक पृथक् पदार्थ
९६. सङ्ख्या द्रव्य नहीं
९७. संख्या गुण नहीं
९८. सङ्ख्या सामान्य भी नहीं
९९. सङ्ख्या कर्म नहीं
१००. सादृश्य-लक्षण
१०१. सादृश्य के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष
१०२. रामानुजाचार्यकृत सादृश्य विवेचन
१०३. सामान्य सादृश्य नहीं
१०४. अधिकांशत अवयव गत सामान्य भी सादृश्य नहीं
१०५. मोक्ष

१०६. प्रभाकर और मोक्ष
१०७. ग्रन्थकार के अनुसार मोक्ष एक विलक्षण पुरुषार्थ
१०८. ज्ञानकर्म समायोजन
१०९. मोक्षाधिकारी - उसके साधन
११०. मोक्षाधिकारी का मुख्य साधन ज्ञान
१११. मोक्ष विषयक इतर मतों का प्राभाकरों द्वारा खण्डन
उपसंहार

तृतीय अध्याय : शास्त्र-रहस्य 151-186

१. शब्दप्रमाण : लक्षण
२. क्या शब्द प्रयत्न से उत्पाद्य है? (पूर्वपक्ष)
३. पूर्वपक्ष खण्डन
४. रामनुज द्वारा पूर्वपक्ष के अनुमान में दोष
५. प्रयत्न वर्णों का अभिव्यञ्जक सिद्धान्त पक्ष
६. प्रत्यभिज्ञा : समस्या एवं समाधान
७. रामानुज सम्मत प्रत्यभिज्ञा
८. वृद्ध व्यवहार से शब्दार्थ सम्बन्ध अनादि एवं अपौरुषेय
९. नैयायिक सम्मत शब्दार्थ सम्बन्ध
१०. नैयायिक मत खण्डन
११. पद से पदार्थ एवं वाक्यार्थ प्रतीति
१२. अतीन्द्रियवादियों के मत का खण्डन
१३. नैयायिक मत
१४. रामानुज कृत खण्डन
१५. रामानुज कृत कुमारिल मत खण्डन
१६. अन्विताभिधानवाद
१७. रामानुज सम्मत लक्षणा-स्वरूप विवेचन
१८. अभिहितान्वयवादी मत के स्मारकत्व-पक्ष का निरास
१९. रामानुज कृत प्रभाकरमत विश्लेषण
२०. अन्विताभिधान पर आक्षेप

२१. आकांक्षा लक्षण परीक्षा
२२. सन्निधि लक्षण परीक्षा
२३. योग्यता लक्षण परीक्षा
२४. अन्वय एवं अन्वित सम्बन्ध विवेचन
२५. पद से अतिरिक्त पदार्थ वाक्यार्थ नहीं
२६. पदों से वाक्यार्थ अवगति
२७. न्याय सम्मत व्यक्ति का अर्थ
२८. पदों का असंस्मर्शित्व शङ्का-समाधान
२९. लौकिक वाक्य लिङ्ग के आधार पर बोधक
३०. वक्ता के ज्ञानानुमान से प्रामाण्य व्यवस्थापन
३१. वेद की पौरुषेयत्व शङ्का
३२. वेदापौरुषेयत्व प्रतिपादन
३३. 'चित्रया इत्यादि' वाक्य में अप्रामाण्य शङ्का-समाधान
३४. शास्त्र द्वैविध्य
३५. स्मृति और आचार शास्त्र भी अनुमापक
३६. शास्त्र की कार्यपरत्व व्युत्पत्ति का समर्थन
३७. सिद्धार्थपरक वाक्य से व्युत्पत्ति-शङ्का
३८. रामानुज सम्मत समाधान
३९. शब्दविषयक रामानुज के मत का सार

चतुर्थ अध्याय : शास्त्र-प्रमेय रहस्य 187-197

१. कुमारिलभट्ट के अनुसार विधिविचार
२. मण्डनमिश्र सम्मत विधिविचार
३. पार्थसारथिकृत मण्डनमिश्र - मत परीक्षण
४. रामानुज का मत
५. प्राभाकरों द्वारा लिङादि प्रत्यय व्यापार का खण्डन
६. रामानुज द्वारा प्रेरणा के विध्यर्थ होने का खण्डन
७. रामानुज सम्मत सिद्धान्त पक्ष
८. रामानुज कृत 'अभिधाभावनामाहु' का परीक्षण

९. रामानुज सम्मत सिद्धान्त पक्ष
१०. भावना ही प्रवृत्ति का मूल
११. रामानुज के मत में लिङादि कार्यपरत्व तथा नियोज्यान्वय
१२. प्रेषादि लिङर्थ नहीं
१३. प्रभाकर मत में कार्य स्वरूप
१४. रामानुज के अनुसार अपूर्व के साथ पुरुष का अन्वय क्रम
१६. निष्कर्ष

पञ्चम अध्याय : शास्त्रारम्भ-रहस्य 198-211

१. रामानुज सम्मत मीमांसा की परिभाषा
२. रामानुज द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष तथा विश्वजित् न्याय का अभिप्राय
३. सिद्धान्त पक्ष
४. अध्ययन विधि का नियामक पक्ष : समस्या एवं समाधान
५. कालव्रतादि का अध्ययनाङ्गत्व
६. शबर के अनुसार वेदार्थविचार : शङ्का-समाधान
७. जिज्ञासात्रय प्रतिपादन
८. कुमारिल के मत में अध्ययन-विधि
९. पार्थसारथि के अनुसार अध्ययन-विधि
१०. रामानुज द्वारा स्वाध्याय के संस्कार्यत्व का खण्डन
११. रामानुज द्वारा अर्थज्ञानकामोऽधिकारी का खण्डन
१२. अध्यापन विधि
१३. प्रयोजन विषयक पार्थसारथि की शङ्का
१४. रामानुज द्वारा सिद्धान्त स्थापन

उपसंहार 212-214

सन्दर्भ ग्रन्थ-पञ्जिका 215-219

प्रथम अध्याय
प्रमाण-रहस्य

'प्रमाण संख्या फलार्थवादिषु
यतो विवादाः बहुधा वितेनिरे;
ततो वयं तत्प्रतिबोध-सिद्धये
प्रमाणपारायणमारभामहे।।'
- शालिकनाथस्य

भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति बार तत्त्वों पर आधारित है- ये चार तत्व - प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति हैं। ज्ञान प्राप्त करने वाला **प्रमाता**, जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह **प्रमेय**, जिस साधन से ज्ञान प्राप्त होता है वह **प्रमाण** और जो ज्ञान प्राप्त होता है वह **प्रमिति** कहलाता है। इन चारों में से प्रमाण को ज्ञान का विशेष साधन होने से असाधारण करण कहा गया है क्योंकि बिना प्रमाण के किसी पदार्थ का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं है।

प्रमाता प्रमाण से ही अर्थ का निश्चय करके उसके प्रति प्रवृत्त या निवृत्त होता है। प्रमाण के आधार पर ही प्रमाता आदि शेष तीनों की सार्थकता सम्भव है।

प्रभाकर परम्परा को छोड़कर लगभग सभी आस्तिक-दर्शनों में ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ दो भेद किये गये हैं। जो वस्तु जैसी हो उसको उसी रूप में जानना यथार्थ तथा उससे भिन्न रूप में जानना अयथार्थ है। रजत को रजत ही जानना यथार्थ और उसमें तत्सदृश सीपी को रजत जानना अयथार्थ ज्ञान कहलाता है। इन्हीं को क्रमशः प्रमा और अप्रमा कहा जाता है। प्रमा के अन्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाणों को तथा अप्रमा के अन्तर्गत संशय-भ्रम आदि का ग्रहण किया जाता है।

१५वीं शती में अपने पूर्व प्राभाकर आचार्यों को दृष्टि में रखते हुए

तन्त्ररहस्य में रामानुजाचार्य ने ज्ञान के उक्त दोनों भेदों से हट कर प्रत्येक ज्ञान को यथार्थ घोषित किया। जिस पर आगे विस्तार से विचार किया गया है।

सांख्य के मत में अबाधित एवं अज्ञात पौरुषेय अथवा बौद्धिक बोध प्रमा एवं संशयादि **अप्रमा** कहलाते हैं।[१] तत्ववैशारदीकार ने भी यही माना है।[२]

नैयायिकों ने इन्हें सत् और असत् - शब्द से अभिहित किया है।[३] वैशेषिकवादी विद्या और अविद्यादि शब्दों से इनका विवेचन करते हैं।[४]

वेदान्त के अनुसार स्मृति रहित अनधिगत एवं अबाधित ज्ञान प्रमा तथा तद्भिन्न अप्रमा है।[५] ब्र०सू०शा०भा० में 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' अध्यास को अप्रमा तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य को प्रमा रूप माना है।[६]

कुमारिल सम्प्रदाय में प्रमा का स्वरूप

श्लोकवार्तिककार कुमारिल ने करणदोषरहित एवं बाधरहित अज्ञातार्थ को प्रमात्व में माना है[७]- नारायणभट्ट ने भी अज्ञातत्व के ज्ञान को प्रमा कहा है।[८] पार्थसारथि मिश्र प्रमा अथवा प्रामाण्य का वाचक जो 'स्व' शब्द है उसका विवेचन करते हुए कहते हैं- कि जो अर्थ के अनुसार ज्ञान होता है और जिसके कारण वह ज्ञान प्रमाण है- उस ज्ञान की प्रमाणता 'स्व' से ही भासित होती है- किसी गुण-क्रिया या संवाद के ज्ञान से नहीं- ऐसा औत्सर्गिक ज्ञान ही पार्थसारथि के मत में प्रमाण्य (प्रमात्व) है।[९]

---

१. (क) द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थ-परिच्छित्तिः प्रमा सां०सू० १-८७
   (ख) साङ्ख्य प्रवचन भाष्य- १-८७, पृ० ४६
   (ग) सां०त०कौ०, पृ० ३३
२. अनधिगत-तत्वबोधः पौरुषेयव्यवहारहेतुः प्रमा....। त.वै.
३. न्या०भा० (न्या०सू० १-१-१)
४. वै०सू० ९-२-११, १२
५. वे०परि०, पृ० ८
६. ब्र०सू०शा०भा०, पृ० १७, वे०सा०, पृ० ८६
७. श्लो०वा०, औत्पत्तिक-सूत्र, श्लो० १०-११
८. प्रमाचाज्ञाततत्वार्थज्ञानम् मा०मे०, पृ० ५ तथा पृ. ८
९. न्या०र०मा० (द्वि०प्र०), पृ० ३२

प्रभाकर परम्परा में प्रमा

प्राभाकर परम्परा में प्रमाण के लक्षण में ही प्रमा का स्वरूप सन्निहित है। ग्रन्थकार रामानुजाचार्य ने अनुभूत्यात्मक प्रतीति को प्रमा कहा है और स्मृति व्यतिरिक्त संवित् अनुभूति है।[१] इसका विस्तृत विवेचन प्रमाण-लक्षण प्रकरण में किया गया है।

प्रमाण स्वरूप विचार

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं।[२] जैन दर्शन-सम्यक् अर्थ निर्णय को प्रमाण मानकर चलता है।[३] बौद्धों के मत में 'अविसंवादिज्ञान' प्रमाण का लक्षण है- आचार्य धर्मोत्तर ने 'अनधिगतविषयं प्रमाणम्' को प्रमाण लक्षण बताया है।[४] नैयायिकों ने प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।[५] वैशेषिकों का प्रमाण वह है जो वाक्य प्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादन करता है।[६] साङ्ख्यतत्वकौमुदीकार के अनुसार - जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान होता है और प्रमा के प्रति करणभूत हो - वह प्रमाण कहलाता है और वह असन्दिग्ध, अविपरीत तथा अनधिगतविषयाचित्तवृत्ति वाला होता है।[७] योगसूत्र पर वृत्तिकार भोज के अनुसार जिस ज्ञान में कोई किसी प्रकार का विवाद न हो - जिसे सब विद्वान लोग मानते हों ऐसा अविसंवादिज्ञान प्रमाण कहाता है।[८] जिसका उत्तरकालीन ज्ञान से बाध हो जाये वह अप्रमाण है। यथा - एक चन्द्र से द्विचन्द्र ज्ञान का बाध हो जाता है। वेदान्त परिभाषाकार ने स्मृति को भी अबाधित विषय ज्ञान वाली होने से प्रमाण कोटि में रखा है।[९]

---

१. तं०र०, पृ० २
२. प्रत्यक्षमात्रं चार्वाकाः - दर्शन मीमांसा (उद्धृत तर्कभाषा, पृ० १२८ पर)
३. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् प्र०मी० सू० २, पृ० २
४. प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् प्र०वा० परि० १, श्लोक-३
५. न्या०सू० (वात्स्यायन भाष्य) १-१-३, न्या०म० प्रमाण लक्षण, पृ० १२
६. वै० सूत्रोपस्कार (वै०सू० १-१-३) पृ० १५
७. सां०त०कौ०, पृ० ३३
८. यो०सू० १-७ पर भोजवृत्ति
९. वे०परि०, पृ० ८

तन्त्ररहस्य में प्रतिपादित प्रमाण लक्षण परीक्षण

रामानुजाचार्य ने अनुभूति को ही प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत किया है।[१] सामान्यतः अनुभूति शब्द का अर्थ 'अनुभव' है।[२] प्रभाकर-विजयकार अनुभूति के विषय में प्रश्न करते हुए कहते हैं कि 'स्वतन्त्रपरिच्छिति' को ही अनुभूति कहते हैं। पुनः शङ्का होती है कि स्वातन्त्र्य क्या है? नन्दीश्वर उत्तर देते हैं कि जो परिच्छेद (परिज्ञान) में पूर्व बुद्धि की अनपेक्षा हो उसे स्वातन्त्र्य कहते हैं[३]- यह अनपेक्षा स्मृति में नहीं होती क्योंकि स्मृति हमेशा पूर्व बुद्धि की अपेक्षा पर आधारित होती है[४] अतः रामानुजाचार्य स्पष्ट लिखते हैं कि स्मृति-रहित संवित् ही अनुभूति कहलाती है।[५] शालिकनाथ मिश्र ने भी ऐसा ही माना है।[६] ग्रन्थकार के अनुसार अनुभूति में ही परीक्षक प्रमाण का व्यवहार करते हैं।

स्मृति प्रामाण्य विचार

ग्रन्थकार के अनुसार 'स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान है'[७] क्योंकि संस्कारों पर आधारित ज्ञान के लिए ही 'स्मृति' का व्यवहार देखा जाता है। संस्कार के ग्रहण से प्रत्यक्षादि ज्ञान को स्मृति से भिन्न किया है क्योंकि प्रत्यक्षादि इन्द्रियादि मात्र से उत्पन्न होते हैं। स्मृति के लक्षण में मात्र के ग्रहण से प्रत्यभिज्ञा को बहिष्कृत किया है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा संस्कार समूह पर आधारित एवं इन्द्रियज होती है[८] अतः प्रत्यक्ष आदि एवं

---

१. अनुभूतिः प्रमाणम् - तं०र०, पृ० २
२. सं०हि० कोश- आप्टे, सं०श०कौ० के अनुसार- अनु+भू+क्तिन् .(अनुभव)
३. का चानुभूतिः? स्वतन्त्रपरिच्छितिः। किमिदं स्वातन्त्र्यं नाम? परिच्छेदे पूर्वबुध्यनपेक्षत्वम्। प्र०वि० (प्र०ल०प्र०, पृ० २४)
४. स्मृतिस्तु परिच्छेदे पूर्वबुध्यपेक्षैवेति न प्रमाणम्। - वही, पृ० वही
५. स्मृति व्यतिरिक्ता च संवित् अनुभूतिः - तं०रं०, पृ० २
६. अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या। प्र०पं०, अमृतकला प्रकरण, कारिका-१, पृ० १०४
७. स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानम्। तं०र०, पृ० २
८. तत्र संस्कारग्रहणेन प्रत्यक्षादिज्ञानव्युदासः ..... मात्र ग्रहणेन प्रत्यभिज्ञायाः व्युदासः .....। तं०र०, पृ० २

प्रत्यभिज्ञा से भिन्न तथा पूर्वप्रतिपत्ति सापेक्ष जो स्मृति ज्ञान है- उससे व्यतिरिक्त अनुभूति को ही तन्त्र रहस्यकार ने प्रमाण का लक्षण माना है।[१] ग्रन्थकार पूर्वपक्ष की ओर से शङ्का करते हैं- कि स्मृति तो यथार्थ होती है- फिर उसे प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? - जैसे हम घट को देखने के बाद अन्यत्र जाकर उसका स्मरण करते हैं- ऐसे यथार्थ स्मृति ज्ञान को प्रमाण क्यों न माना जाए? - इसका ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि- सत्य है, परन्तु सर्वसंवित् साधारण होने से याथार्थ्य ही प्रामाण्य का निमित्त नहीं है[२]- अपितु अनुभूति को ही प्रामाण्य की कसौटी कहा जा सकता है।[३] स्मृति तो केवल संस्कारजन्य एवं अनुभूति में विलक्षण पूर्व ज्ञात (दृष्टं घटं स्मरामि) इत्याकारक अर्थ को ही लिए हुए स्वतन्त्र रूप से किसी अर्थ का ज्ञान नहीं कराता - इसलिए प्रमाण नहीं है। उसकी जो स्मृति-प्रमा है वह यद्यपि स्वतन्त्र है परन्तु संस्कारजन्य होने से वह भी प्रमाण नहीं है - इसलिए स्मृति और स्मृतिप्रमा इन दोनों से रहित गृहीतग्राही भी धारावाहिक संज्ञान प्रमाण ही होता है।[४]

धारावाहिक ज्ञान भी प्रसंगवश विचारणीय है- धारावाहिक ज्ञान का अर्थ है- तैल धारा के सातत्य के समान एक ही घट में घटोऽयं घटोऽम्- इत्याकारक प्रतीति।[५] प्रथम बार 'घटोऽयम्' कहने के बाद पुनः उसी प्रकार का ज्ञान गृहीत का ही ग्रहण है ऐसे गृहीतग्राही ज्ञान को भी क्या प्रमाण माना जाए? यह दार्शनिकों की चर्चा का विषय रहा है। अनधिगतार्थगन्तृप्रमाण लक्षण मानने वालों में कुछ लोगों ने इसके प्रामाण्य का कालभेद न होने

---

१. तं०र०, पृ० २
न प्रमाणं स्मृतिः० - प्र०पं०, अमृत०प्र०, श्लो० २, पृ० १०४

२. न हि याथार्थ्य प्रामाण्यनिमित्तम्। - तं०र०, पृ० २

३. किं त्वनुभूतित्वमेव। - वही, पृ० वही

४. अत एवोभयविध-पारतन्त्र्याभावाद्गृहीतग्राहित्वेऽपि धारावाहिकवित्तयः प्रमाणमेव। - तं०र०, पृ० २

५. ....एकमेव विषयमवलम्ब्य यत्र चिरकाल पर्यन्तं तैलधारावदविच्छेदेन अयं घटः, अयं घट इति ज्ञानं जायते, तदेवधारावाहिकज्ञानमित्युच्यते। - मी०द०वि०, तृ०परि०, पृ० ४२

से खण्डन किया है।[१] इधर नैयायिक भी अनधिगतार्थगन्तृ के प्रमाण लक्षण होने का ही खण्डन करते हैं।[२] मीमांसकों में पार्थसारथि मिश्र ने सूक्ष्म कालभेद को स्वीकार किया है और इसी काल भेद के आधार पर धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को पुष्ट किया है।[३] प्रभाकर परम्परा में शालिकनाथ मिश्र ने विनाकालभेद के आधार पर ही इसे एक अनुभूति के रूप में प्रमाण माना है[४]- जो ग्रन्थकार रामानुज को भी अभीष्ट है।[५]

याथार्थ्य का सर्वज्ञान साधारण्य : समस्या और समाधान

अब प्रश्न यह है कि - याथार्थ्य साधारण कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने अर्थ के प्रति अव्यभिचारी है- यह नियम है- इसीलिए याथार्थ्य साधारण है। पुनः शङ्का होती है कि सीपी में रजत का और श्वेत शङ्ख में पीत शङ्ख होने की प्रतीति, स्थाणु या पुरुष होने का संशय तथा स्वप्न का उत्तर काल में बाध होना - इन सब प्रतिकूल ज्ञानों को देखते हुए ज्ञान का विषय के प्रति याथार्थ्य कैसे हो सकता है? रजतज्ञान का आधार सीपी ही है यदि सीपी से हटकर 'यह रजत है' ऐसा व्यवहार किया जायेगा तब तो ज्ञेय और ज्ञान का समानाधिकरण्य नहीं बनेगा और रजतार्थी की सीपी में प्रवृत्ति भी नहीं होगी - क्योंकि ज्ञान और प्रवृत्ति एक विषय को लेकर ही होते हैं अथवा एक विषयात्मक ही होते हैं यह नियम है - अतः पीत शङ्ख आदि प्रतीतियाँ भ्रान्त एवं प्रतिकूल

---

१. धर्मोत्तराचार्य प्रभृति

२. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका - तर्कभाषा, पृ० ४०

३. अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः। यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोपरतः सोऽनन्तर क्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति। तथा हि किमत्र घटोऽवस्थितः इति पृष्टः कथयति - अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य - परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्। - शा०दी०, पृ० ७६

४. अन्योऽन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकं बुद्धयः" व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न उत्पत्तितः प्रतीतितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता। - प्र०पं०, पृ० १२६

५. धारावाहिकवित्तयः प्रमाणमेव। - तं०र०, पृ० १

होने से (कुमारिल प्रभृति) पूर्व पक्षियों के मत में 'अन्यथाख्याति' ही है।[१] इतना ही नहीं - यदि याथार्थ्य सर्वसाधारण है तब यह भ्रमाभ्रम क्यों होता है? और 'यह तो रजत नहीं है!' - ऐसा बाध क्यों होता है? याथार्थ्य न होने के कारण ही पूर्वप्रतिपन्न विषयों का अपहार होता है - यह पूर्वपक्ष है।

रामानुज इसका उत्तर देते हैं[२]- कि जिस प्रतीति में जो अर्थ ज्ञात होता है वही उस प्रतीति का विषय होता है। क्योंकि अन्य विषय तो वहाँ भासित नहीं है[३] प्रतीति से बाहर की वस्तु को विषय माना जायेगा तब अति प्रसंग होने लगेगा। अतः अन्य विषय का अन्य प्रकार से भान होना प्रतीति विरुद्ध होने से रजत प्रतीति शुक्ति में नहीं - रजत में ही होती है।[४]

प्रभाकर दर्शन में ज्ञान और वह मिथ्या हो - ये दो विरुद्ध बातें सम्भव नहीं है - इनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान यथार्थ है।[५] ग्रन्थकार पूर्वपक्ष की ओर से पुनः प्रश्न उठाते हैं - कि यदि प्रत्येक ज्ञान यथार्थ है तब सीपी में 'इदं रजतम्' का निर्वाह कैसे होगा? रामानुजाचार्य प्रकरणपञ्चिकाकार[६] एवं नय-विवेकाकार[७] को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम तो

१. तं०र०, पृ० २ (पूर्वपक्ष)

२. द्र० प्र०पं० नयवीथी प्रकरण, श्लो० २४, २५

३. यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः। नान्यः। तस्य तत्रानवभासात्। - तं०र०, पृ० २

४. तं०र०, पृ० २

अत्र ब्रूमो - य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद्वेद्यस्यलक्षणम्।।
इदं रजतमित्यत्र रजतञ्चावभासते।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात्।। - प्र०प० - नयवीथी, प्र०श्लो० २३-२४

५. यथार्थसर्वमेवेह विज्ञानमिति - प्र०पं०, न०वी०, प्र०श्लो० १

६. प्र०पं०, नयवीथी, प्र०श्लो० २६ से प्रकरण के अन्त तक

७. ननु 'इदम्' इत्येतत् समानाधिकरणतया रजतभानम्, न च वस्तु तथेत्ययथार्थमेव मैवम् 'इदम्' इति रजत व्यक्तितुल्य धर्मकवस्तुभाने रजत जातिस्मृतौ च सत्यां रूप्यन्तर्भावाच्च रूपबुद्धेरिदमन्तर्भावो जातः। तत्र तु विवेको न भातः - किमपररूपिसन्निधेरित्थं भानमुतनिज-रूपिसन्निधेरिति। अतो भानस्थमात्रापेक्षयासत्यधीतुल्यतेति युक्ता समानाधिकरणता। विवेकग्रहावसरे तु निज जाति रूपितम् 'इदम्' इति रूपिमानम् रजतजाति-मानमपि निजव्यक्त्यन्तररूपतया। - न०वि० १-१-५, पृ० ८९-९०

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर अगृहीत विशेष धर्मा सीपी का 'इदम्' इस अंश से ग्रहण होता है - तत्पश्चात् नेत्रादि दोष वश उसी का एक भिन्न अंश भूत, चमक में उसी के समान रजत मात्र का स्मरण हो जाता है लोक में समान वस्तु को देखने पर उसके सदृश पहले वाली वस्तु की स्मृति आ जाती है - यह देखा जाता है। वह स्मरण प्रमुष्टतत्तात्मक अर्थात् उस पूर्व दृष्ट रजत की चमक होने से समान अनुभूति होती है - ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ तक तो हम और आप (पूर्वपक्षी) में कोई मतभेद नहीं। परन्तु गृह्यमाण और स्मर्यमाण में भेद न दीखने से सामान्य आकारक की प्राप्ति होने से एक विशिष्ट व्यवहार बन गया। लेकिन ध्यान रहे कि वह व्यवहार विशेष बुद्धिपूर्वक नहीं है - इसके बाद ही प्रवृत्ति का होना सम्भव है। कालान्तर में भेद ज्ञान होने पर व्यवहार में बाध हो गया - यहाँ पर ग्रन्थकार यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह बाध पूर्व ज्ञान के विषय का नहीं है क्योंकि पूर्वज्ञान और उसका विषय अपने में यथार्थ हैं अत: यथार्थ होने से ज्ञान का बाध नहीं हुआ करता व्यवहार का ही बाध होता है।[१]

मीमांसा सूत्र के[२] दसवें अध्याय के दूसरे पाद में कृष्णल और चरू- ये हवि विशेष के लिए बताये गये हैं - इनकी यथासमय और यथाविधि आहुतियाँ डालने से देने से आयु की प्राप्ति होती है।[३] तन्त्ररहस्यकार कहते हैं- कि इन कृष्णलों में अवघात का और चरुओं में पेषण का अनुष्ठान मात्र ही बाधित है - उनके यज्ञाङ्गत्व प्रतीति का बाध नहीं है - क्योंकि वह प्रमाणों से सिद्ध है - अत: दशम अध्याय का यह बाध भी व्यवहार का ही है ज्ञान का नहीं।[४] इस प्रकार यह सम्यक् मिथ्यात्व विभाग भी बना हुआ है - जहाँ व्यवहार में विसंवाद हो जाए उसे पूर्व ज्ञान का भ्रान्तत्त्व कह दिया जाता है और जहाँ विसंवाद न हो उसे सम्यक् ज्ञान कह दिया

१. .... न पूर्वज्ञानविषयापहार:। तयोर्यथार्थत्वात्। किन्तु व्यवहार विसंवाद एव। न हि ज्ञानं बाध्यम्। तस्य यथार्थत्वात्। किन्तुव्यवहार:। - तं०र०, पृ० ३

२. मीमांसा दर्शन, अध्याय १०, पाद १-२, पृ० १७९९ से १८६४ तक

३. प्राजापत्यं चरूं निर्वपेद् घृते शतकृष्णलमायुष्काम इति। - नी०द० (शा०भा०), अध्याय १०, पा० २, अधि० १, सूत्र १

४. तं०र०, पृ० ३

जाता है। जल स्वभावतः शीतल होने पर भी गर्म जल का प्रयोग, शीतलत्व जल का स्वभाव होने पर भी 'शीतल चन्द्रमा' ऐसा प्रयोग, सुवर्ण-तेजस् स्वभाव वाला होने पर भी भारी-सुवर्ण (गुरुतरं सुवर्णम्) ऐसा प्रयोग- पूर्वपक्षी कहता है कि - इन सब प्रयोगों में व्यवहार का बाध न होने से- इन्हें यथार्थ मानना चाहिए? रामानुज उत्तर देते हैं कदापि नहीं। क्योंकि विवेकाग्रह के कारण इनके ज्ञान में भी विद्यमान भ्रान्ति व्यवहृत नहीं होती।[१] शालिकनाथ कहते हैं कि भ्रान्ति तो है लेकिन व्यवहार का विसंवाद न होने से उस भ्रान्ति का व्यवहार नहीं होता।[२] पार्थसारथि ने लोक विरोध न होने से इसे प्रमाण माना है।[३]

पूर्वपक्ष का संशय

पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि 'इदम्' अंश से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा वस्तु की साक्षादनुभूति से अनुभव है - हमने मान लिया - लेकिन रजतांश को स्मृति कैसे मानें?

रामानुजकृत समाधान

रामानुज उत्तर देते हैं कि तत्तांश (रजत की चमक) को स्मृति के रूप में चुराया जाने से[४] - स्मृति है। यदि पूर्वपक्ष यह कहे - चूँकि वहाँ पर उस रजत की प्रतीति तो होती नहीं फिर उसका भी अनुभव ही क्यों न मान लिया जाए? रामानुज कहते हैं कि चाक्षुष अनुभव नहीं है - क्योंकि वह वस्तु वहाँ पर प्रयुक्त ही नहीं है। लिङ्ग के अभाव में इसे अनुमिति भी नहीं कह सकते - परिशेषतः स्मृति ही है। उसके अंश का प्रमोष दोष के

---

१. तं०र०, पृ० २

२. यत्र तु व्यवहार विसंवादो नास्ति तत्र भ्रान्तिरपि न व्यपदिश्यते। - प्र०पं०, षष्ठ प्रकरण, पृ० १२७

३. ननुयथार्थतापि चेत् प्रमाणलक्षणम्, उष्णजलज्ञानमप्रमाणं स्यात्। इष्टमेवैतत्। ननुलोकविरोध : स्यात्? स्याद् यद्ययथार्थतां जानन्त एव लौकिकाः प्रामाण्यं मन्वीरन्। ते तु यथार्थतामेवैतस्य मन्यमानाः प्रामाण्यमभ्रान्तत्वं च मन्यन्ते। ये त्वयथार्थतां जानन्ति, ते नैव प्रामाण्यं मन्यन्ते, नाप्यभ्रान्ताम्, तस्मान्नास्ति विरोधः। - शा०दी०, पृ० ७६

४. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः - यो०सू० १-११

कारण है अतः मूर्ख लोग उसको अनुभव मान बैठते हैं - परीक्षक इससे भिन्न मानते हैं। यद्यपि वह प्रतीतिगृहीतग्राही तथा तत्तारहित होती हुई धारावाहिक वैलक्षण्य भी दीखती है लेकिन केवल संस्कारगोचर होने से- वह अनुभव नहीं है।[१] पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है - कि दोषयुक्त चक्षु से भी विशिष्ट अनुभव क्यों नहीं होता? उत्तर देते हैं कि - दोष स्वभावतः कार्य के प्रतिबन्धक होते हैं - उनसे विलक्षण कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती - असंख्य दोषों से व्याप्त शाल के बीज से यव का अंकुर उत्पन्न होते कहीं नहीं देता जाता है।[२]

कुमारिलभट्ट का मत एवं उसकी परीक्षा

कुमारिलभट्ट के अनुसार रज्जु में सर्प की प्रतीति और उसका बाध होने के बाद की प्रतीति दोनों भिन्न है प्रथम ज्ञान से द्वितीय ज्ञान बिल्कुल अन्यथा होने से वे अन्यथाख्यातिवादी है[३] - लेकिन प्रभाकरवादी रामानुज कहते हैं कि हमारी दृष्टि में तो गृह्यमाण (सीपी) और स्मर्यमाण (रजत की चमक) में भेद न कर पाना रूप ही भ्रान्ति (अख्याति) कही जा सकती है उसी से प्रवृत्ति भी संभव है - अतः तृतीय भ्रान्ति ज्ञान के गौरव होने की क्या आवश्यकता है? लाघव ही श्रेयस्कर है।[४] इसके अलावा मिथ्यात्व या भ्रान्ति को मानने से प्रत्येक ज्ञान का यथार्थ होना रूप नियम भी भंग होने लगेगा - जो कि एक दोष है।

ग्रहण-स्मरण को स्वीकार करके ही उनसे विपर्यय होता है- यह तो आप (पूर्वपक्षियों) ने भी मान लिया है - इसीलिए आप स्मर्यमाण के आरोप का व्यवहार कर रहे हैं।

अब प्रश्न यह है कि जो ज्ञान का विषय है उसी में प्रवृत्ति होनी

---

१. तं०र०, पृ० २
२. तं०र०, पृ० ३
३. भा०द०, पृ० २६५ (द्र० अन्यथाख्याति विवेचन)
४. अस्माकं तु ताभ्यामेवागृहीतभेदाभ्यां भ्रान्तिव्यपदेशोपपत्तेः। प्रवृत्ति सम्भवाच्च न तृतीयज्ञानाङ्गीकारः। लाघवात्। तं०र०, पृ० ३

चाहिए। रजत का ज्ञान सीपी में गोचर नहीं होना चाहिए - तो फिर रजत के ज्ञान की प्रवृत्ति सीपी में क्यों? ज्ञान रजत का और प्रवृत्ति सीपी में - ऐसा क्यों है?

रामानुज कहते हैं जैसे सम्यक् रजत में प्रवृत्ति होती है वैसे ही यह प्रवृत्ति है - अन्तर इतना ही है कि यहाँ सीपी और रजत में जो भेद है उसका अग्रहण है - वस्तुतः यह भेदाग्रह प्रभाकर मान्यताओं में से एक मुख्य सिद्धान्त है - जो दो समान धर्मों वाली वस्तुओं की अभेदकता का द्योतक है। इसी को 'अख्यातिवाद' के नाम से भी कहा जाता है।[१] रामानुज कहते हैं कि यह भेदाग्रह आप (पूर्वपक्षी) को भी मान लेना चाहिए क्योंकि इसके बिना भ्रान्ति नहीं बन सकती। इस सम्बन्ध में भवनाथ मिश्र ने भी यही कहा है - कि विवेकाग्रह के समय तो 'इदं रजतम्' का व्यवहार होता है लेकिन विवेकग्रह होने पर उसका बाध हो जाता है[२] - वह बाध हो जाना ही भाट्टों या नैयायिकों का भ्रम मिथ्यात्व अथवा विपर्य्यय है। अतः शुक्ति शकल रजतज्ञान गोचर है रजतार्थी की प्रवृत्ति का विषय होने से - सम्यक् रजत के समान - यह आपका अनुमान खण्डित हो गया - क्योंकि प्रथम तो इसमें कोई विसंवाद नहीं होगा - यदि विसंवाद (बाध) ही नहीं रहा तब तो विशेष ग्रह होने से भ्रान्ति के उदय का प्रश्न नहीं बनता - इसके अतिरिक्त यदि शुक्ति-शकल में रजत-ज्ञान गोचर होने लगेगा तब तो घट शब्द पट का वाचक होने लग जायेगा और चक्षु से गन्ध का ग्रहण होने लगेगा[३], जोकि अनुपयुक्त है।

विज्ञानवाद मत परीक्षा

ग्रन्थकार ने विज्ञानवादियों की विचारधारा का प्रत्याख्यान किया है-

---

१. अत्रब्रूमो - य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद्वेद्यस्य लक्षणम्।। - प्र०पं० नयवीथी २३

२. एवं च विवेकाग्रहावसरे रजत-व्यवहारः विवेक-ग्रहे तु तद्बाधः तद्बाधाच्च भ्रमता। - नय विवेक १-१-५, पृ० ९०

३. तं०र०, पृ० ३

विज्ञानवादियों की मान्यता यह है[१] कि बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार होकर अर्थात् ज्ञान में अपने आकार को समर्पित करता हुआ उसे अपने आकार वाला बनाता हुआ निरूपित होता है। तदनुसार यदि कोई ज्ञान यदि अर्थ के प्रति बाधित हो गया तो समझना चाहिए कि वह प्रतीयमान आकार जितना ज्ञान था उतना ही ज्ञात होकर रह गया। रामानुज कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो प्रत्येक ज्ञान साकार होने से बाह्य विषयों में भी ज्ञान का मिश्रण होने लगेगा।[२] शालिकनाथ भी यही कहते हैं कि जिस आकार का ज्ञान उत्पन्न हो – उसी आकार का अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हो – ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है अतः यह कथन विज्ञानवादियों का उचित नहीं है।[३]

रामानुज भेदाग्रह एवं ज्ञान के याथार्थ्य को विविध उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पीतिमायुक्त शङ्ख का ज्ञान भी यथार्थ है।[४] वस्तुतः तो शङ्ख श्वेत ही होता है परन्तु जब नेत्रगत पीतिमा किरणों के रूप में निकल कर शङ्ख पर पड़ती है तब पीलिया दोष के कारण श्वेत शङ्ख भी पीला दिखाई पड़ता है – क्योंकि द्रव्य और गुण की सर्वत्र एक साथ ही प्रतीति हो – ऐसा नियम नहीं है[५] श्वेतवस्तु भिन्न (पीतिमादि) गुण के साथ भी प्रतीत हो सकती है। यद्यपि पीतिमा भिन्न है और श्वेतता भी भिन्न है – पर शङ्ख एक ही है – एक वस्तु पर दो धर्मों का असम्बन्ध होने पर भी नेत्र दोष के कारण ज्ञात नहीं होता – यही भेदाग्रह है – इस असम्बन्धाग्रह के कारण एक-विशिष्ट व्यवहार यह बन जाता है कि मनुष्य उस शङ्ख को पीला मान कर ही उसमें प्रवृत्त हो जाता है।[६]

१. विषयः ज्ञाने स्वाकारमर्पयत् ज्ञानं स्वसमानाकारं कुर्वन् निरूपणीयं करोतीति भावः। – प्र०पं०टि० २, पृ० १७४

२. किं च ज्ञानस्यार्थ-व्यभिचारे प्रतीयमानस्तावदाकारो ज्ञानमात्रपर्यवसितः स्यात्। ततश्च सर्व ज्ञानं साकारतामापतेदितिबाह्य-समय-साङ्कर्यम्। तं०र०, पृ० ५

३. न हि यदाकारं ज्ञानमुत्पद्यते, तदाकार एवार्थोज्ञानस्योत्पतौ निमित्तमित्यत्र किञ्चित् प्रमाणं प्रक्रमते। – प्र०पं०, प्र०परा०, पृ० १८०

४. तथा पीतशङ्खबोधोऽपि यथार्थ एव। – तं०र०, पृ० ३

५. नेत्र-वर्तिनि स्वच्छे पित्त-द्रव्ये तद्रश्मिभिस्सह निर्गते तद्गतपीतिमाऽत्र गृह्यते। तथा दोषवच्छङ्खमात्रं च। – तं०र०, पृ० ४

६. परस्परसाकाङ्क्षयोस्तयोर्विद्यमानोऽप्यसम्बन्धो न बुध्यते। ततश्च तत्रासम्बन्धाग्रहाद्विशिष्ट धीव्यवहारः। प्रवृत्तिरपि तत एव। – तं०र०, पृ० ४

शालिकनाथ तो स्पष्ट करते हैं कि कौन कहता है कि- शङ्खपीतिमा प्रमाण नहीं है? - यथार्थ होने से यह प्रमाण है - उनके अनुसार यहाँ दो ज्ञान है - १. पीतिमा विषयक और २. शङ्ख विषयक। **शालिकनाथ के अनुसार यदि व्यवहार का बाध हो गया तो प्रमाण भी भ्रान्त है और यदि व्यवहार बाध नहीं हुआ तो भ्रान्ति भी प्रमाण है - जैसे उष्ण-जल इत्यादि**। अतः पीतशङ्खादि[१] ज्ञान प्रमाण ही है और भ्रान्त भी है। द्विचन्द्र ज्ञान में भी नेत्र को अङ्गुली से दबाये जाने रूप दोष से नेत्र रश्मियाँ द्विधा विभक्त होकर एक चन्द्र में ही द्विचन्द्र के दर्शन कराती है वहाँ पर भी उस द्वित्व और चन्द्र के असम्बन्ध का ज्ञान न होने से द्विचन्द्र का व्यवहार होता है।[२] इसी प्रकार चारों तरफ तेज़ी से घूमने वाले अलात चक्र दण्ड में भी नैरन्तर्य ज्ञात होता है - वहाँ भी बीच के अन्तराल का अग्रहण होने से चक्र बुद्धि का व्यवहार होता है। ऐसे दर्पण पर जब नयन रश्मियाँ पड़ती हैं - वे प्रथम तो दर्पण को ग्रहण करती है - बाद में प्रतिबिम्बित मुख को ग्रहण करती हैं। उस समय दर्पण और मुख में भेदाग्रह होने से दर्पण में मुख का व्यवहार होता है - उसमें दीखने वाले दायां, बायां, कमज़ोर-मोटा आदि धर्मों का और मुख का भेदाग्रह होने से - मुख में भी उन्हीं का व्यवहार होने लगता है।[३]

स्वप्न

स्वप्न भी स्मृति ही है - जैसे स्मृति अनुभूत विषयों का सम्प्रमाण है - वैसे ही स्वप्न भी विना अनुभूत विषयों के नहीं हो सकते। यह एक

---

१. कां नाम पीतशङ्खज्ञानमप्रमाणमाह, प्रमाणमेव हि तद् यथार्थविषयत्वात्। विज्ञानद्वयन्त्वेतदेकविज्ञान-साधारणरूपम्, तत्रैकविज्ञान साधारणरूपावमर्शादेकविज्ञान-सदृशव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहार-दशायां विसंवादमावहत् प्रमाणमपि सद् भ्रान्तमित्युच्यते। यत्र तु व्यवहार विसम्वादो नास्ति, तत्र भ्रान्तिरपि न व्यपदिश्यते। यथोष्णजलज्ञाने।... तस्मात् पीतशङ्खादि ज्ञानं प्रमाणमेव भ्रान्तञ्चेत्यनवद्यम्। यस्तु विपरीतख्यातिवादी उष्णजलज्ञानमप्रमाणं भ्रान्तञ्चाह तस्य सर्वलोकविरोधः। - प्र०पं०, प्र०पा०प्र०, पृ० १२७-२८

२. तं०र०, पृ० ४

३. तं०र०, पृ० ४

अवस्था विशेष है – जागने पर फिर वैसी ही बुद्धि हो जाती है, जैसे पहली थी।[१]

संशय

संशय भी 'स्थाणुरयं पुरुषो वा' – इत्यादि प्रकारक दो ज्ञानों वाला है – ये दोनों ही ज्ञान स्मृति रूप है। दोनों अपने में यथार्थ हैं लेकिन एक ही धर्मों के दो प्रकार की प्रतीतियाँ भेदाग्रह वाली होने से संशय का व्यवहार होने लगता है।[२]

यदि एक ज्ञान अपने विषय के प्रति व्यभिचरित हो गया – तो सर्वत्र ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए – क्योंकि ऐसा होने से तो संसार में विश्वास ही नहीं रहेगा। यदि पूर्वपक्षी प्रभाकराभिमत भेदाग्रह में भी अविश्वास फैलने की शङ्का करे तो वह भी विषय अर्थात् पूर्वपक्षी से भिन्न तथ्य होने के कारण यह शङ्का उचित नहीं। प्रत्येक ज्ञान सत्य है – ऐसा सबको स्वाभाविक विश्वास है। प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है। किसी विषय में यदि कोई अविश्वास है – तो वह भी स्वल्प प्रयास से निवृत्त हो सकता है। प्रवृत्ति के बाद यदि व्यवहार विसंवाद नहीं होता तब तो वस्तुस्थिति का निश्चय हो जाता है और यदि व्यवहार विसंवाद हो गया तब परस्पर विनिर्मुक्त अगृहीत भेद वाली वस्तुओं का भी उस रूप में निश्चय हो जाता है।[३]

अतः रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। याथार्थ्य में भी स्मृति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। **अनुभूति ही प्रमाण है।** यह प्रभाकर परम्परानुमोदित तन्त्ररहस्यकार का प्रमाण लक्षण का निष्कर्ष है।[४]

तन्त्ररहस्य में प्रतिपादित प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विचार

प्रामाण्यवाद भारतीय दर्शन का गम्भीर विषय रहा है – इस पर अनेक दार्शनिकों ने विचार किया है। प्रमाण शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय जुड़ने

१. स्वप्नस्तु स्मृतिरेव। न ह्याननुभूते स समुदेति। – तं०र०, पृ० ४
२. वही, पृ० ४
३. तं०र०, पृ० ४
४. अतस्सर्वं ज्ञानं यथार्थम्। याथार्थ्येऽपि स्मृतिरप्रमाणम्। अनुभूतिः प्रमाणमिति सिद्धम्। – वही, पृ० ४

पर प्रामाण्य शब्द बनता है - इसका अर्थ है ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा विश्वसनीयता।[१] अब प्रश्न उठता है कि क्या यह विश्वसनीयता स्वतः है अथवा किसी अन्य साधन से बनता है? इस प्रश्न को लेकर ही विचारशीलों ने स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य-भेद से इसका उत्तर खोजने का प्रयास शुरु किया।

अब 'स्वतः' और 'परतः' - इन दोनों शब्दों पर विचार करना भी प्रसंगानुकूल होगा। सामान्यतः जिस साधन से ज्ञान उत्पन्न होता है - उस ज्ञान के प्रामाण्य के लिए उस प्रयुक्त साधन से अतिरिक्त साधन की जहाँ अपेक्षा न हो उसे 'स्वतः प्रामाण्य' कहते हैं।[२] जहाँ ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक साधन-भिन्न हों उसे 'परतः प्रामाण्य' माना गया है।[३] साङ्ख्य स्वतः प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं, प्राभाकर मीमांसक केवल स्वतः (वेद) प्रामाण्य को ही मानते हैं।[४] इसी प्रकार जैन और बौद्धादि दर्शनों में इस विषय पर अपने-अपने ढंग से विचार किया गया है। रामानुज ने भाट्ट सम्मत प्रमाणलक्षण दिखाते हुए प्रामाण्याप्रामाण्य विषयक उसकी मान्यता पर विस्तार से विचार करके स्वतः प्रामाण्यवाद को स्थापित किया है।

प्र उपसर्गपूर्वक मा धातु से ल्युट् प्रत्यय जोड़ने पर प्रमाण शब्द सिद्ध होता है। दार्शनिकों ने सामान्यतः प्रमा के साधन को ही प्रमाण माना है।[५] रामानुजाचार्य ने अनुभूति को ही प्रमाण सिद्ध किया है - 'अनुभूतिः प्रमाणमिति सिद्धम्।[६]

---

१. प्रामाण्य - प्रमाण + ष्यञ् विश्वसनीयतादि। - संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ६९०
२. ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्। - त०भा०, पृ० १३१ (हिन्दी)
३. ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वम् परतस्त्वम्। - वही, पृ० १३१ (हिन्दी)
४. वेद-प्रामाण्यं त्वनपेक्षत्वादेव सिद्धम्। - तं०र०, पृ० ७
५. ननु च प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणसाधनोऽयं प्रमाण शब्दः। - न्या०मं०, पृ० १२
द्रष्टव्य - वे०प०, पृ० ८, त०भा, पृ० १३, प्र०ल०, पृ० २, आदि।
६. तं०र०, पृ० १ तथा ४

कुमारिलभट्ट सम्मत प्रमाण लक्षण

आचार्य कुमारिलभट्ट ने अज्ञात अर्थ के ज्ञान को प्रमाण माना है तदनुसार वह ज्ञान दृढ़ तथा अविरुद्ध होना चाहिए - तन्त्ररहस्यकार, कुमारिल के प्रमाण लक्षण को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - आचार्यैस्तु 'दृढ़मविसंवाद्यगृहीतग्राहि-विज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाण सामान्यलक्षणं निबद्धम्।[१] तदुक्तम्[२] - तस्मादृढं यदुत्पन्नं न विसंवादमृच्छति। ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम्।। न्यायरत्नाकरकार पार्थसारथि मित्र ने भी इसी का अनुमोदन किया है।[३]

कुमारिल के प्रमाण लक्षण का विशद और स्पष्ट विवेचन पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका में दिखाया है - इसमें इन्होंने कहा है[४] - तीन बातों के आधार पर ज्ञान को प्रमाण माना जा सकता है - यदि -

१. ज्ञान के साधन दोष रहित हों

२. ज्ञान का आगे चलकर बाध न होता हो

३. वह ज्ञान अज्ञात अर्थ का द्योतक हो अथवा प्रकाशक हो

मानमेयोदयकार ने भी अज्ञाततत्त्वार्थज्ञान को प्रमा और उसके करण को प्रमाण माना है।[५]

कुमारिलभट्ट सम्प्रदाय में प्रामाण्याप्रामाण्य का स्वतस्त्व और परतस्त्व

रामानुज ने कुमारिल द्वारा कृत प्रमाणलक्षण प्रस्तुत करने के बाद प्रामाण्यस्वत: और अप्रामाण्य परत: - इस भाट्टमान्यता का प्रतिपादन किया

---

१. तं०र०, पृ० १ तथा ४

२. श्लो०वा० चोदना सूत्र - ८० (ग्रन्थकार द्वारा पृ० ४ पर उद्धृत)

३. श्लो०वा० (न्या० २०), पृ० ५२

४. कारणदोष - बाधकज्ञान - रहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणम् सूचितम्। - शा०दा०, पृ० ७१

५. तस्मादज्ञाततत्वार्थज्ञानसाधनमेव न:।
प्रमाणमिति निर्णीतं तद्विशेषानथ ब्रुवे।। - मा०मे०, पृ० १०

है। कुमारिल के शिष्यों द्वारा स्वतस्त्व पर किया गया विविध प्रकार का विचार-विमर्श भी रामानुज ने ग्रन्थ में प्रदर्शित किया है -

कुमारिल के एक शिष्य ने 'स्व' शब्द को आत्मीय वचन कहा है।[१] प्रामाण्य को अर्थ तथात्व कहा है और उत्पन्न होने का तात्पर्य माना है- योग्यता से अध्याहृत होना। अर्थात् स्वयं के द्वारा ही अर्थतथात्व रूप प्रामाण्य सम्पन्न होता है। गुण तो दोष का प्रतिबन्ध मात्र करके क्षीण हो जाते हैं और यदि प्रामाण्य को गुणों के अधीन मान लिया गया तब वेद के अपौरुषेय होने से उसमें वक्तृगुण का अभाव होने के कारण वह प्रामाण्य नहीं बन सकेगा। अतः प्रामाण्य किसी गुण से उत्पन्न नहीं होता। तदनुसार अप्रामाण्य दोष से उत्पन्न होने के कारण परतः है - उसके मतानुसार 'इदं रजतम्' में स्वकारणभूत इदमांश का स्वतस्त्व तथा दोषवश रजतांश में मिथ्यात्व परतस्त्व है।

कुमारिल का प्रामाण्यविषयक सिद्धान्त निम्न श्लोक में सन्निहित है- जो कि न्यायरत्नमाला से उद्धृत है -

आत्मवाची स्व शब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता।
अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमिति गीयते।।[२]

प्रस्तुत कारिका ग्रन्थकार ने न्यायरत्नमाला से उद्धृत की है[३] जिसमें भाट्टमतानुसार प्रामाण्य का स्वरूप प्रदर्शित है। इसका निष्कर्ष रामानुज इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

'स्व' शब्द आत्म वाची है। 'अर्थ-तथात्व' प्रामाण्य है। 'भाति' पद से अध्याहार किया गया है अर्थात् स्वयं ज्ञानस्वरूप से ही अर्थतथात्व रूप प्रामाण्य भासित होता है। ज्ञान द्वारा अर्थतथात्व का प्रकाशकत्व स्वाभाविक है। ज्ञान गत प्रामाण्य-गुण ज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान अथवा संवाद-ज्ञान की भी

१. स्वशब्दोऽयमात्मीय वचनः। - तं०र०, पृ० ५
२. न्याय-रत्नमाला, द्वितीय प्रकरण, श्लो० २
३. न्या०र०मा० (द्वि०प्र०), पृ० २८, कारिका-२

अपेक्षा नहीं रखता।[१] कुमारिल के इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वोक्त इन्हीं के एक शिष्य का विवेचन अनुकूल न होने से पार्थसारथि मिश्र ने उसको दूषित बताया है।[२] जिसकी चर्चा रामानुज ने की है।[३]

कुमारिल के श्लोकवार्तिक में एकत्र गुण के आधार पर प्रामाण्य मानने पर अनवस्था दोष आता है[४] - अत: परत:प्रामाण्य में ही दोष कारण है यह बात नहीं घटती। कुमारिल ने अन्यत्र यह कहा है कि 'तदा न व्याप्रियन्ते तु याज्ञमानतया गुणा:।'[५] इसमें गुण स्वरूप से नहीं गुण ज्ञान से प्रामाण्य होता है - यह बताया है। अर्थात् प्रामाण्य के अवधारण में यदि गुणावधारण आवश्यक होता तब तो अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा - लेकिन दोषाभाव की अवगति में तो गुण अपनी सत्ता से ही उपकारक होते हैं - अत: कुमारिल के इन दोनों स्थलों पर उनके शिष्य का विरोध होने से पार्थसारथि द्वारा दिखाया गया दूषण ही रामानुज ने तन्त्ररहय में दिखाया है।

रामानुज ने पार्थसारथि के आधार पर एक अन्य भाट्टानुयायी का भी प्रामाण्यगत विवेचन असंगत दिखाया है उस अनुयायी ने 'स्व' शब्द को आत्मवचन (स्वयं ज्ञान-वाचक) बताते हुए गुण एवं अर्थ क्रिया-कारिता निरपेक्ष और अनधिगत तथा भूतार्थ निश्चय को 'प्रामाण्य' कहा है। अप्रामाण्य को दोष ज्ञान से उत्पन्न माना है।[६] यह पक्ष भी उचित नहीं - क्योंकि न्या०र०मा० में पार्थसारथि ने इसको भी असंगत बताया है।[७] इस मत में अप्रामाण्य का जो परत: जन्म माना है - वह अयुक्त है - क्योंकि रजत ज्ञान गत जो अप्रामाण्य है वह दोष ज्ञान से उत्पन्न नहीं है वह जो उत्पत्ति

१. आचार्यमततत्ववेदिनस्तु-स्वशब्दोऽयमात्मवचन:। प्रामाण्यं चार्थ तथात्वम्। भातीति चाध्याहार:। ..... ज्ञानमात्रस्यार्थतथात्वप्रकाशकत्वं स्वारसिकमिति यावदिति। - तं०र०, पृ० ५-६

२. बहव: श्लोक: अस्मिन् पक्षे न संगच्छन्ते। अतो न वार्तिककाराभिमतोऽयं पक्ष:। - न्या०र०मा० (द्वि०प्र०), पृ० ३०

३. एतन्मतमाचार्यग्रन्थानुगुणं न भवतीति तदीयैरेवोपेक्षितम्। - तं०र०, पृ० ५

४. श्लो०वा० २-४९

५. श्लो०वा० २-६७

६. तं०र०, पृ० ५

७. न्या०र०मा०, द्वि०प्र०, पृ० ३०-३१ पर, प्रतिपादित - वार्तिककार और उक्त मत में विरोध

के समय से ही अप्रमाण है और अतथा भूतार्थ-निश्चय ही अप्रामाण्य है, अप्रमाण ज्ञान में वह स्वतः ही रहता है। किसी बाधक ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा कहीं नहीं होता कि उत्पत्ति के समय तो प्रमाण हो और कालान्तर में बाधक के द्वारा अप्रमाणित कर दिया जाए - अपितु उत्पत्ति में ही ज्ञात अप्रामाण्य पश्चात् बाधक से ज्ञापित होता है।

किञ्च, इस मत के अनुसार तो प्रामाण्य का भी स्वतः जन्म अयुक्त है क्योंकि वहाँ पर भी ज्ञान स्वरूप ऐसे ही है जैसे परतः प्रामाण्य में है। यदि यह कहा जाये कि सम्यक् ज्ञान के साथ ही प्रामाण्य का भी कथन हो जाता है, तब स्वयं से स्वयं की उत्पत्ति मानी जायेगी - क्योंकि सम्यक्-ज्ञान और प्रामाण्य नितान्त-अभिन्न हो जायेंगे[१] - अतः यह मत भी ठीक नहीं है। एक अन्य मतानुसार 'स्व' शब्द ज्ञान परक है - ज्ञान से ही तद्गत प्रामाण्य ज्ञापित होता है और अप्रामाण्य परतः जाना जाता है। इस मत का भी भाट्टमतानुयायी पार्थसारथि मिश्र ने न्या०र०मा० में खण्डन किया है - क्योंकि कोई भी ज्ञान अपने ही प्रामाण्य को अपने लिए ग्रहण नहीं करता। ज्ञान तो अर्थ ग्रहण कराने के बाद क्षीण हो जाता है। उत्पन्न हुआ ज्ञान मैं प्रमाण हूँ - अथवा यह मेरा प्रामाण्य है - ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती।[२] ज्ञान की तो अर्थ प्रकाशान्यथानुपपत्ति से कल्पना की जाती है क्योंकि ज्ञान के बिना अर्थ का प्रकाश नहीं हो सकता और प्रामाण्य का भी उसी समय निश्चय कर लिया जाता है[३] अतः इस मत में 'स्वतो भाति' का विवेचन असंगत होने से ठीक नहीं। वस्तुतः प्रामाण्य अर्थ तथात्व रूप विषय का धर्म है ज्ञान का नहीं- हाँ उसका स्वरूप ज्ञान से ही जाना जाता है।[४]

---

१. तं०र०, पृ० ५

२. यदि वयं ज्ञानमहं प्रमाणमित्येवम्, मदीयं वा प्रामाण्यमित्येवं गृह्णातीति वदेम, तदेवमुपालभ्येमहि। न त्वेवमस्माभिरुच्यते.....। - न्या०र०मा०, द्वि०प्र०, पृ० ३२

३. तं०र०, पृ० ५

४. .....प्रामाण्यमर्थतथात्वरूपविषयधर्मः, न तु ज्ञान-धर्मः। तत्स्वरूपं ज्ञानादेवावगम्यते, नान्येनेति निरूपणम्। - न्या०र०मा० (द्वि०प्र०), पृ० ३२

स्वतस्त्व परतस्त्व की व्याख्या के विकल्प

भाट्ट मत को स्पष्ट करने के लिए बृहट्टीका को भी ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है-

तस्मात्स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्।
बाधकारणदुष्टत्व-ज्ञानाभ्यां तदपोद्यते।।

कारिकागत-स्थितम् का अर्थ है - सम्प्राप्त और 'सर्वज्ञ' से अभिप्राय केवल प्रमाणों से ही नहीं - अपितु सभी ज्ञानों से है। स्मृति-संशय को तो प्रमाण मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह कहा जाये - कि वेद तो स्वतः प्रमाण है ही - उसके प्रामाण्य की चिन्ता तो काकदन्त परीक्षा[१] न्याय से अनुपयोगी है अतः प्रमाणों का ही औत्सर्गिकत्व साध लेना चाहिए- परन्तु रामानुज भाट्टकारिका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - सर्वत्र ज्ञानमात्र में स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि में वेद भी तो स्वभावतः कारण दोषादि से रहित होने से निरपवाद है अतः सब ज्ञानों का प्रामाण्यगत औत्सर्गिकत्व ठीक ही कहा है। इससे भिन्न अपवाद रूप है।[२]

रामानुज ने भाट्टमत समीक्षा में प्रामाण्य की तीन मुख्य पहचान समुपस्थित की है - १. ज्ञात का अपर्यवेक्षण, २. अर्थतथात्व और ३. ज्ञान का निश्चयजनकत्व। स्मृति में ये तीनों बातें पूर्ण न होने से प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।[३]

रामानुज भाट्टों की दृष्टि में नैयायिकों का प्रामाण्य-मत पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहते हैं कि - 'घट' शब्द, घट ज्ञान का उदय और घट की सत्ता और असत्ता विषयक साधारण ज्ञान - इन तीन चीज़ों से ही घट का ज्ञान नहीं हो जाता - अपितु अर्थक्रिया, संवाद और गुण - इन तीनों

---

१. काकदन्तपरीक्षा का अर्थ है - व्यर्थ का काम - जब कौए के दाँत ही नहीं तब उनकी परीक्षा किसलिए?

२. तं०र०, पृ० ६

३. वही, पृ० ६

के आधार पर उसका निश्चय होने से प्रामाण्य स्वतः नहीं – परतः होता है क्योंकि ये तीनों ही – व्यभिचारदोषरहित, अर्थतथात्व से युक्त एवं ज्ञान के निश्चायक हैं – अतः ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय से तथा तद्गत प्रामाण्य का ग्रहण उससे भिन्न सामग्री द्वारा अनुमित होने से प्रामाण्य स्वतः नहीं – परतः होता है यह पूर्वपक्ष है।[१] रामानुज अब प्रामाण्य विषयक भाट्टों का सिद्धान्त पक्ष रखते हुए कहते हैं कि – ज्ञान अव्यभिचारात्मक निश्चय से अर्थ का निश्चय नहीं करता किन्तु स्वतः ही अर्थ का निश्चायक होता है – यदि स्वतः निश्चय नहीं कर सका तब तो निश्चय अत्यन्त असम्भव होने से सारा संसार ही अन्धकार युक्त हो जायेगा।

पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि यदि ज्ञान अपने प्रामाण्य के निश्चय करने में दूसरों (अर्थक्रियादि) की अपेक्षा रखेंगे[२] – तब तो वह दूसरा ज्ञान भी अपने प्रामाण्य के निश्चय के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखेगा – ऐसे तो हज़ार जन्मों में भी किसी ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित नहीं हो पायेगा अतः अनवस्था भय से स्वतः प्रामाण्य ही मानना होगा।

रामानुज भाट्ट मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्वतः निश्चित वस्तु कभी परतः निश्चय की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि पर की – अपेक्षा भी असमर्थ है – जैसे अर्थ क्रिया को ही देखें[३] – स्वप्नावस्था में प्रिया को देखने का प्रामाण्य कौन निश्चित कर सकता है? घट ज्ञान की तो बात बहुत दूर है – इसी प्रकार बिना घट ज्ञान के भी मैंने घड़ा देखा – ऐसी प्रतीति हो जाती है[४] – इसी तरह सम्वाद में भी पूर्व-ज्ञान से क्या नवीनता है – गुण ज्ञान से गुण का भी निश्चय नहीं हो पाता। इस विषय में

---

१. तं०र०, पृ० ६

२. यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षेत.....ततः जन्मसहस्रेणाप्यध्ववसीयेतेति प्रामाण्यमेव सर्व उत्सीदेत्। – शास्त्रदीपिका, पृ० ३५

३. अर्थक्रियाशब्देननोदकहरणादिकमुच्यते – किन्तु विज्ञानमेव सुखात्मकम् .... न तया 'पूर्वज्ञानस्य शक्यं याथार्थ्यविज्ञातुम्।' – न्या०र०, पृ० ३७ (द्वि०प्र०)

४. वही – द्रष्टव्य – गुणज्ञान-संवाद-ज्ञानयोः प्रामाण्य-हेतुत्वप्रतिक्षेपः। पृ० ३८

नारायणभट्ट तो स्पष्ट करते हैं कि अर्थक्रिया (प्रयोजन) ज्ञान और सम्वाद आदि से जब स्वतः प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है, तब मूलभूत प्रथम ज्ञान ने क्या बिगाड़ा है? उसका प्रामाण्य-निश्चय परतः के पलड़े में क्यों डाल दिया जाता है।[१] अतः रामानुज भाट्ट मत का निष्कर्ष रखते हुए कहते हैं कि - प्रामाण्य स्वतः ही होता है और दोष अथवा बाधक ज्ञान से अप्रामाण्य परतः ज्ञापित होता है - वेद में दोषों का अभाव होने से - स्वतः प्रामाण्य पूर्वतः ही सुस्थित है।

रामानुज द्वारा भाट्ट मत में दोष की उद्भावना

रामानुज की दृष्टि में भाट्टों का सामान्य लक्षण[२] दोषयुक्त होने से अनुपपन्न है। संशय और विपर्यय के यथार्थ होने से लक्षण के प्रारम्भिक 'दृढ़ और अविसंवादि' - इन दो पदों में क्रमशः अव्यावृत्ति है। धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण होने से 'अगृहीताग्राहि' लक्षण के इस अन्त्यपद में इसकी अव्याप्ति है।[३] अनुभूतिमात्र ही प्रमाण होने से सर्वत्रोत्सर्गिक-स्थित-स्वातन्त्र्य भी नहीं बनता। संस्कार मात्र से जन्य होने से अप्रामाण्य का परतस्त्व भी नहीं बन सकता। यदि भाट्ट अर्थतथात्व को ही प्रामाण्य कहते हैं तब स्मृति में भी तथात्व का प्रसंग आने से अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा। अननुसन्धान को यदि प्रामाण्य का प्रयोजक माना जायेगा तब तो स्मृति प्रमाण में अतिव्याप्ति और प्रत्यभिज्ञा में अव्याप्ति दोष आयेगा - क्योंकि स्मृति में नया ज्ञान न होने से अननुसन्धान अर्थात् अपर्यवेक्षण होने से अतिव्याप्ति स्पष्ट है - इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा में इदन्ता का निवेश होने से उसकी अव्याप्ति हो जायेगी।

रामानुज का मन्तव्य है कि यदि आप (पूर्वपक्षी) स्वारसिकत्व को प्रामाण्य मानते हैं तब स्मृति रहित उस ज्ञान स्वभाव (स्वारसिकत्व) को तो हम भी मानते हैं इस विषय में तो - हमारे विचार समान है। जहाँ तक

---

१. मा०मे०, पृ० १७६

२. दृढमावसंवाद्यगृहीतग्राहिविज्ञानं प्रमाणम्। - तं०र०, पृ० ४

३. तं०र०, पृ० ७

द्वितीय पक्ष (परतः प्रामाण्य) का प्रश्न है। स्वाभाविक शक्ति को बांध लेना अथवा रुकावट पैदा करना - दोष कहलाता है किन्तु वह अप्रामाण्य का निमित्त नहीं है - यदि कहा जाय कि दोष भी संस्कारमात्रज हैं - तब इस विषय में भी हमारा और आपका कोई विवाद नहीं - समान हैं। वेद का प्रामाण्य तो स्वतः ही सिद्ध है उसकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है - अतः स्वतः और परतः प्रामाण्य का प्रयास ही व्यर्थ है।[१] बाह्यहेतु से अप्रामाण्य की उत्पत्ति का तर्कपाद में भी निराकरण किया गया है। प्र०पं० के नय-वीथी० प्रकरण में ज्ञान के याथार्थ्य का सविस्तार विवेचन किया गया है।[२]

ज्ञान की प्रतीति के विषय में शङ्का यह होती है कि स्मृति भी तो आत्मविषयक होने से अनुभूति हो सकती है? इसके साथ ही एक प्रश्न और जुड़ जायेगा - यदि स्मृति और अनुभूति दोनों हो सकते हैं - तब एक ही वस्तु स्मृतित्व और अनुभूतित्व रूप विरुद्ध धर्मों को कैसे वहन कर सकती है?

प्रतीति प्रकार

इस तथ्य को समझने के लिए ज्ञान प्रतीति की वास्तविक व्यवस्था को समझना आवश्यक है। रामानुज कहते हैं कि इसका प्रकार यह है - जो भी ग्रहण स्मरण रूप प्रतीति है उसमें सर्वत्र आत्मा भी भासित होता है। बिना आत्म प्रकाश के विषय कदापि प्रकाशित नहीं हो सकता।[३] इसलिए प्रत्येक प्रतीति में 'मैं जानता हूँ' ऐसी अनुभूति होती है। बिना आत्मसंवित्ति रूप ज्ञानाधार के कोई बुद्धि उदित नहीं हो सकती और यदि आत्म प्रतीति न हो तो अपने और पराये के ज्ञान में कोई वैशिष्ट्य नहीं रह जाता। आत्माभास के बिना मेय और माता का सहोपलम्भ नियम भी नहीं

१. वेद प्रामाण्यं त्वनपेक्षत्वादेव - किं स्वतः परतो वेति प्रयासेन। - वही, पृ० ७

२. द्र० प्र०पं० - नयवीथी प्रकरण

३. या काचिद् ग्रहण-स्मरण रूपा प्रतीतिः तत्र सर्वत्र साक्षादात्माऽव भासते। न ह्यनवभासमाने तस्मिन् विषयाः प्रतिभान्ति। - तं०र०, पृ० ७

बन सकता। यह सब माता-मेय और मान के एकत्व की प्रतीति में ही सम्भव है। अतः सब प्रकार की प्रतीति आत्मांश में अनुभवाकारा एवं साक्षात्कारवती होकर ज्ञात होती है - यह सब अनुभव के आधार पर देखा जाता है।[१]

प्रतीति का स्वयंप्रत्यक्ष के रूप में प्रकाशत्व

यह आत्म विषयक प्रतीति स्वयं-प्रत्यक्षतः प्रकाशित होती है। स्वयंप्रकाश रहित प्रमेय और प्रमाता भी जिस ज्ञानात्मक प्रतीति से प्रकाशित होते हैं - उस प्रतीति को स्वयं के लिए किस प्रकाशक साधन की आवश्यकता रह सकती है? उसमें विषय प्रकाश के समय भी प्रकाशान्तर नहीं होता और ऐसा भी नहीं है कि वह प्रतीति प्रकाशान्तर के बिना स्वयं भासित ही नहीं हो सकती - क्योंकि उसके अनवभास में सबके अनवभास का प्रसंग आने लगेगा। प्रकाशरहित दीपक से विषय कभी भी प्रकाशित नहीं होते।[२]

अतः प्रतिपक्ष का निम्न वचन निरस्त हो जाता है जैसाकि बृहट्टीकाकार ने कहा है[३]-

अङ्गुल्यग्रं यथाऽऽत्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति।
स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मानं ज्ञातुमर्हति।।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे अङ्गुली का अग्र भाग अपने को स्वयं नहीं छू सकता - इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मविषयक प्रतीति स्वयं नहीं कर सकता - यह भाट्ट मान्यता है।

रामानुज ने तार्किक ढंग से इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि ज्ञान के स्वप्रकाशकत्व में यदि कर्मकर्तृभाव के विरोध की कोई शङ्का करता है तो यह उचित नहीं क्योंकि ज्ञान स्वयं की अपेक्षा कर्मकर्तृभाव

१. तं०र०, पृ० ७
२. तं०र०, पृ० ७
३. प्र०पं०, प्र०पा०प्र०, पृ० १८७ पर उद्धृत, तं०र०, पृ० ७ पर उद्धृत

को कभी प्राप्त ही नहीं होता - फिर विरोध किसका।[१] दूसरी बात यह है कि परस्पर विरोध होने से अर्थ का प्रकाशक स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता - यह कथन भी सर्वथा अनुचित है क्योंकि यह बात तो लोक में प्रतीति के बल से ही सिद्ध है। हम देखते हैं कि दीपक जहाँ विषयों को प्रकाशित करता है वहाँ अपने को भी प्रकाशित करता है - अतः ज्ञान स्वयं प्रकाश है।[२]

नैयायिकों का ज्ञान को नित्यानुमेय मानने का सिद्धान्त इस युक्ति से अपास्त हो जाता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ज्ञान का अनुमापक भी केवल विषय ही नहीं होता क्योंकि अनुमापक लिङ् वही बन सकता है जिसका अविनाभाव सम्बन्ध हो जैसे धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता- इसलिए अविनाभाव सम्बन्ध वाला है लेकिन ज्ञान का विषय के साथ वैसा अविनाभाव ग्रन्थकार ने नहीं माना।[३]

भाट्ट ज्ञाततान्यथानुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति से ज्ञान की प्रतीति को मानते हैं। रामानुज के अनुसार यह ज्ञातता तो ज्ञान प्रतीति का अतिशय रूप है जिसकी सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है। 'ज्ञातो घटः' यदि इसी में ज्ञातता धर्म की प्रतीति भाट्ट मानते हैं - यह प्रतीति तो ज्ञान के सम्बन्ध मात्र से सिद्ध हो जायेगी फिर ज्ञातता नामक धर्म का गौरव वहन करना व्यर्थ है।[४] अतः ज्ञान सुख आदि की तरह मानस प्रत्यक्ष गम्य नहीं है - अपितु स्वयं प्रकाश आत्मविषयक अनुभवाकार में साक्षात् होता हुआ प्रमाणभूत है - यह प्रतीति के बल से सिद्ध है।

वस्तुतः वेद्यांश (जानने योग्य अंश) ही स्मृतित्व, अनुभूतित्व, प्रत्यक्षत्व, परोक्षत्व, प्रमाणत्व-अप्रमाणत्व - इन सबके रूप में व्यवस्थित

१. न हि वयं ज्ञानस्य स्वापेक्षया कर्म-कर्तृ-भावमभ्युपगच्छामः। - तं०र०, पृ० ८

२. तस्मात्सर्वाप्रतीतिरात्मांशेऽनुभवाकारा साक्षात्कारवती चेत्यनुभव- बलादेवाश्रयणीयम्। तथा स्वात्मांशेऽपि स्वयं प्रत्यक्षा प्रकाशते। - तं०र०, पृ० ७

३. .....ज्ञानस्य तदभिमतं नित्यानुमेयत्वमप्यपास्तम्। - वही, पृ० वही

४. नापि तज्जन्यो विषयगतो ज्ञाततापराकट्यापरपर्यायोऽतिशयः। तत्र प्रमाणाभावात्। ज्ञातो घट इति व्यपदेशस्तु ज्ञानसम्बन्धमात्रेणाप्युपपन्नः। - वही, पृ० ८

है। जिस वेद्यांश का 'तद्' से व्यवहार होता है - उस अंश में वह - संस्कारत्व, स्मृतित्व, परोक्षत्व और प्रमाणत्व रूप होता है। क्योंकि 'तद्' ज्ञातविषय का अथवा अतीत का द्योतक है और 'इदम्' वर्तमान का वाचक है जिससे प्रत्यक्षत्व का व्यवहार होता है। स्मृति-प्रमोष और स्वप्न में 'तद्' अंश का प्रयोग यदि न भी किया जाये तब भी इन्द्रियों का असम्प्रयोग होने से परिशेषतः 'तत्ता' का भाव सिद्ध रहता है।[१] संस्कारजत्व भी 'तदंश' से युक्त है - इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा में भी इदन्ता के साथ-साथ 'तत्ता' का अवगाहन रहता है।[२]

रामानुज का मत है कि जैसे 'इदम् रजतम्' में रजतांश में अन्यथाख्यातिवादी मिथ्यात्व अथवा दोषजत्व बताते हैं। इदमांश तो वस्तुतः दोषमुक्त ही है। लेकिन जब सचमुच के रजत में शुक्तिका की प्रतीति होगी तब वह तत्ता रूप शुक्तिका भी रजत की तरह तथाकथित अन्यथाख्यातिवादियों की दृष्टि में मिथ्यात्व को प्राप्त होगी अर्थात् उसका भी बाध हो जायेगा यह सब वस्तुप्रतीति की धर्मव्यवस्था कारणभेद पर निर्भर है।[३]

इदमांश से प्रत्यक्षत्व का ग्रहण होता है क्योंकि इसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से वस्तु का साक्षात् होता है, जैसे - सामने मेज़ पर रखी पुस्तक के बारे में 'इदं पुस्तकं पश्यामि' इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षत्व है। जहाँ 'इदम्' का उल्लेख या व्यवहार नहीं होता वहाँ लिङ्ग शब्दजन्य परोक्ष अनुभूति होती है।[४]

रामानुज इस विषय में यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि - जहाँ 'तद्' का उल्लेख - कथन अथवा व्यवहार होता है वहाँ संस्कारजत्व के आधार पर सब प्रतीतियों को स्मृति के रूप में ही कहा जायेगा क्योंकि

---

१. तं०र०, पृ० ८
२. तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा। - त०भा०, पृ० १७
३. तं०र०, पृ० ८
४. तं०र०, पृ० ८

संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति होती है।[१]

इस प्रकार प्रतीति के सम्बन्ध में सर्वत्र कार्य के आधार पर कारण की कल्पना की जाती है - कारण से कार्य की नहीं। अतः सामग्री ऐक्य (जिस सामग्री से ज्ञान उसी से प्रामाण्य) के होने पर भी कार्य की विलक्षणता को देख कर कारण की विलक्षणता का देखा जाना भी अभीष्ट है।

अन्ततोगत्वा अनुभूति ही प्रमाण है यह सिद्ध हो गया - स्मृति व्यतिरिक्त संवित् ही **'अनुभूति'** है।[२]

प्रमाण विभाग

रामानुज ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द - इन पाँच प्रमाणों को माना है।[३]

शाबरभाष्यानुसार इन्द्रियार्थ सम्बन्ध होने पर जो पुरुष की बुद्धि बनती है, वही **प्रत्यक्ष** है।[४] जैमिनी सूत्र पर भाष्य करते हुए शबरस्वामी द्वारा सूत्रगत 'सत्सम्प्रयोग' पद पर विशेष विचार न हुआ देखकर शालिकनाथ ने सुन्दर ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इससे पूर्व शालिकनाथ ने उक्त प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष दिखाया है क्योंकि स्वात्मा में भी तो लिङ्गादि से उत्पन्न प्रतीति प्रत्यक्षत्व के रूप में ही है अतः इनमें उक्त लक्षण न घटने से अव्याप्तिदोष है।[५]

१. यत्र तु वेद्यांशे इदमित्युल्लिख्यते तत्रेन्द्रियसन्निकर्षजत्वेन प्रत्यक्षत्वम्। यत्र तु न तथोल्लेखः तत्र तु लिङ्गशब्दजन्यत्वेन परोक्षत्वमनुभूतित्वम्। यत्र तु तदित्युल्लेखः तत्र केवलसंस्कारजत्वेन स्मृतित्वमिति सर्वमुपपन्नम्। - तं०र०, पृ० ८

२. तत्सिद्धमनुभूतिः प्रमाणम्। स्मृतिव्यतिरिक्ता च संविदनुभूतिः।
स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमिति। - वही, पृ० ८

३. तच्च पञ्चविधं प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्ति-शब्दभेदात्। - वही, पृ० ८

४. सतीन्द्रियार्थ सम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते तत्प्रत्यक्षम्। - शा०भा० १-१-४

५. यदपि केचिन्मन्यन्ते 'तत्सम्प्रयोगे ....' इति प्रत्यक्षलक्षणम्। तदप्यव्यापकत्वादलक्षणम्। स्वात्मनि लिङ्गादिजापि प्रतीतिः प्रत्यक्षत्वेनेष्यते, सकलप्रतीतीना च स्वरूपं प्रति प्रत्यक्षताभिमतेति किमिदमुच्यते - तत्सम्प्रयोग इति। - प्र०पं०, पृ० १४५ (प्रमाण पा०प्र०)

शालिकनाथ कहते हैं कि जिस विषय का ज्ञान होता है - उसी विषय का इन्द्रियों से सम्प्रयोग होने पर पुरुष को जो ज्ञान होता है - उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। नेत्र शुक्तिका में - सम्प्रयुक्त होकर यदि रजत का ज्ञान कराती है - वह प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि रजत का ज्ञान रजत विषयक ही हो सकता है अतः रजत के वहाँ न रहने पर अत एव इन्द्रिय सम्प्रयुक्ति भी उससे न होने के कारण शुक्तिका में रजत-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है।[१]

१. प्रत्यक्ष लक्षण विमर्श

रामानुज ने साक्षात्प्रतीति को ही प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है। 'साक्षात्व' का अभिप्राय अपरोक्ष प्रतीति है - जिसे 'विशद अवभास'[२] कहा जाता है। नन्दीश्वर ने स्वरूप प्रतीति को ही 'साक्षात्प्रतीति' माना है। इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'स्व' का जो रूप है - वह स्वरूप अर्थात् असाधारण रूप है। उस असाधारण स्वरूप द्वारा जो प्रतीति होती है - वही 'साक्षात् प्रतीति' है।[३] वह साक्षात् प्रतीति प्रत्येक ज्ञान में आत्मा विषयक होती है अर्थात् प्रत्येक ज्ञान में आत्मा का ज्ञान रहता है। जब सत् अर्थ के साथ इन्द्रियाँ सम्प्रयुक्त होती है तब आत्मा, विषय और ज्ञान इन तीनों से युक्त, परोक्ष से विलक्षण, स्व की अनुभूति से सिद्ध - एक 'धर्मविशेष' है - वही इस साक्षात् व्यवहार का हेतु है - जिसका आगे विवेचन किया जायेगा।[४]

१.०१ नैयायिकाभिमत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन

रामानुज ने नैयायिकों के प्रत्यक्ष लक्षण का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है न्यायसूत्र 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' के विषय में रामानुज कहते हैं कि इन्द्रियार्थ... इति तु न लक्षणम्। आगे हेतु देते हैं कि - आत्मविषयक स्मृति के ज्ञान

---

१. प्र०पं०, पृ० १४५ (प्र०पा०प्र०)

२. तत्र साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्। साक्षात्वं चापरोक्ष्यं विशदावभासः। - तं०र०, पृ० ८

३. स्वस्यैव रूपं स्वरूपं असाधारण रूपमित्यर्थः, यस्य वस्तुनौ यदसाधारण स्वरूप, तेनैवरूपेण या व्यवहारयति, सा साक्षात्प्रतीतिः। - प्र०वि०, पृ० २६

४. तं०र०, पृ० ८

में स्मृतिरहित ज्ञान के प्रामाण्य में इसकी अव्याप्ति रहेगी - क्योंकि स्मृति में भी ऐन्द्रियक ज्ञान साक्षात् सा अवभासित होता है अतः ऐन्द्रियक ज्ञानों में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान - इन तीनों से युक्त साक्षात् व्यवहार का हेतु एकधर्म-विशेष ही 'प्रत्यक्ष' का लक्षण है।[१]

शालिकनाथ ने भी उक्त लक्षण का खण्डन किया है। वे कहते हैं कि नैयायिकों के प्रत्यक्ष लक्षणानुसार वायु का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता- क्योंकि वह अनुष्णशीतस्पर्श वाला है और उसका ज्ञान प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही साक्षात् रूप से होता है स्पर्श से वायु का प्रत्यक्ष न होने से लक्षण इस वायु के ज्ञान में भी अव्याप्त है।[२] शालिकनाथ प्रमाण लक्षणगत दलों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अव्यभिचारी पद की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी ज्ञान अव्यभिचरित हैं - यदि गलती से इस पद का प्रयोग हो भी गया तो 'व्यवसायात्मकम्' यह पुनः लक्षण के साथ अनावश्यक है - क्योंकि इसका प्रयोग संशय निवारण के लिए किया है और संशय का निवारण तो 'अव्यभिचारी' पद से ही हो रहा है अतः लक्षणगत दोनों पद भार रूप हैं।[३]

शालिकनाथ कहते हैं कि इन पदों का प्रमाण लक्षण में तो प्रयोग हो सकता है लेकिन प्रत्यक्ष लक्षण में नहीं। इनके अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण सजातीय विजातीय व्यावृत्ति समर्थ 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं' रूप - एक पृथक् रूप से होना चाहिए।[४]

१.०२ साक्षात्व-स्वरूप तथा उसकी परीक्षा

साक्षात् प्रतीति में जो धर्मविशेष है यह परोक्ष स्वरूप नहीं है। स्मृति में इन्द्रिय ज्ञान साक्षात् अवभासित होने से इसे इन्द्रियजन्य भी नहीं कहा जा

---

१. तं०र०, पृ० ८

२. तदावायोरप्रत्यक्षतास्यात् - यदा हि तैजसमुष्णत्वं जलगतं च शीतत्वं वायोश्चानुष्णाशीतत्वं स्पर्शनेन वायौ वाति सति प्रतीयते, तदा प्रत्यभिज्ञायते द्रव्यं तदेवेदमिति। तेन न स्पर्शमात्रप्रतीतिः। - प्र०पं०, पृ० १३३

३. वही, पृ० १३७

४. तं०र०, पृ० ८-९ (प्र०परि०)

सकता - क्योंकि ऐसा मानने से आत्मविषयक स्मृति में भी यह लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा।

'मैं अपने को जानता हूँ' - इस वाक्य में तीन अंश है - १. मैं, २. अपने को और ३. जानता हूँ - इन तीनों में प्रत्येक अंश तात्कालिक व्यवहार के हेतु - धर्मविशेष से युक्त है ये तीनों अंश उक्त धर्म युक्त होने से अतीत और अनागत विषयता को प्राप्त नहीं हो सकते - अतः अनुमानादि में यह तात्कालिक व्यवहार देखने में नहीं आता।

वह धर्म विशेष परोक्ष और अपरोक्ष व्यवहार का नियामक है - नियामक के बिना नियत व्यवहार सम्भव नहीं है। उस धर्म विशेष को जातिस्वरूप नहीं कहा जा सकता - क्योंकि गुणों में जाति सम्भव नहीं है यदि ऐसा मान भी लिया जाये तब उस जाति की अभिव्यक्ति कैसे हो सकेगी? इस धर्म विशेष को इन्द्रिय-जन्य मानने पर ईश्वर के ज्ञान में अव्याप्ति होगी। 'यह है' इस व्यवहार के अनुगुणत्व को मानने से भी अतीत और अनागत विषयक योगियों का जो प्रत्यक्ष है उसमें अतिव्याप्त हो जायेगा - अतः यह तात्कालिक व्यवहार का हेतु माना जाना ही उचित है।[१]

१.०३ प्रत्यक्ष विभाग

निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से रामानुजाचार्य ने प्रत्यक्ष के दो भेद माने हैं।

१.०४ निर्विकल्पक स्वरूप-विश्लेषण

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रथमतः द्रव्यगुण और जाति - इनके स्वरूपमात्र का ज्ञान होता है। इस ज्ञान में केवल द्रव्य मात्र ही ज्ञान का विषय नहीं होता - अपितु जाति और गुण का भी ज्ञान होता है - अतः इन तीनों के स्वरूप विषयक ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहते हैं।

रामानुज ने अनुमिति के पश्चात् विशिष्ट प्रतीति होने से कर्म को

१. तं०र०, पृ० ९

निर्विकल्पक-गोचर नहीं माना।[१] 'देवदत्त जाता है' इसमें स्मर्यमाण शब्द ही विशेषण है। प्रत्यक्ष रूप से सम्प्राप्त वस्तु ही कर्म का विशेषण बने - ऐसा कोई नियम नहीं है अतः नाम और कर्म स्वयं प्रत्यक्ष भी प्रमाणान्तर से ज्ञात हुए विशिष्ट ज्ञान के हेतु बनते हैं।

१.०५ सविकल्पक विशिष्ट-विषयता वाला है

क्योंकि इसमें पूर्वाकारावमर्श के आधार पर जाति का स्वरूप भासित हो जाता है। 'यह घड़ा है' और 'यह भी घड़ा है' - ऐसी विशिष्ट प्रतीति इससे ही सम्भव होने से यह 'विशिष्ट विषय' वाला कहलाता है। इसी प्रकार गुण की भी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। निर्विकल्पक में द्रव्य और गुण में अन्तर प्रतीत नहीं होता लेकिन सविकल्पक दशा में गुण का गुणी से सम्बन्ध तथा अन्यों के साथ असम्बन्ध ज्ञात हो जाता है - जैसे 'यह सफेद घड़ा है - काला नहीं' ऐसी विशिष्ट प्रतीति स्पष्ट रूप से होने लगती है।[२]

१.०६ प्रमाण फल-विभाग

जब 'प्रमाण' शब्द 'प्रमितिः प्रमाणमि'ति ऐसे भावसाधन के रूप में प्रयुक्त होता है तब 'साक्षात्व' प्रमाण और हानोपानादि बुद्धि फल हैं। जब 'प्रमीयतेऽनेने'ति इस प्रकार करण साधन के रूप में प्रयुक्त होगा तब अपेक्षित करण तो मन, इन्द्रिय और अर्थ सन्निकर्ष होते हैं और ज्ञान फल होता है क्योंकि उस ज्ञान के प्रयोजन से ही करण की प्रवृत्ति हुई। यद्यपि भावसाधन पक्ष में भी हानादि बुद्धि की अपेक्षा प्रमा स्वयं ही करण के रूप में होती है तथापि ज्ञान और अज्ञान के विभाग की दृष्टि से यह विभाग किया गया है।[३]

---

१. कर्म न निर्विकल्पक-गोचरम्। तस्य नित्यानुमेयत्वात्। - तं०र०, पृ० ९

२. सविकल्पक-दशायां तु तदनुसन्धाने पूर्वाकारावमर्शेन जातेरनुवृत्तिप्रतीतिः। 'अयं घटः। अयमपि घटः न तु पटः' इति विशिष्टप्रतीतिसम्भवः। - तं०र०, पृ० ९

३. तं०र०, पृ० ९

अनुमान

१. अनुमान लक्षण परीक्षण

रामानुज अनुमान का लक्षण इस प्रकार कहते हैं[१]-

'एकाश्रयाश्रितयोरेकदेशयोः ज्ञातसम्बन्धनियमेनैकदेशेन सन्दिग्ध स्यैकदेशान्तरस्य परिज्ञानमनुमानम्'। अर्थात् जिनका परस्पर सम्बन्ध ज्ञात हो- उस ज्ञात सम्बन्ध-नियम के आधार पर एक पक्ष (आश्रय) में विद्यमान दोनों आश्रितों में से एक के ज्ञान से - संदिग्ध दूसरे का भी ज्ञान हो जाता है उसे 'अनुमान' कहते हैं। शालिकनाथ ने भी ऐसा ही माना है।[२]

लक्षणगत 'एकदेश' पर आश्रित का वाचक है और 'आश्रय' शब्द से पक्ष का ग्रहण है। पक्ष पर्वत[३] है और आश्रित धूम है। धूम और अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध होता है जिसे महानस में देखते हैं। महानस में धूम और अग्नि के साहचर्य नियम के द्वारा पर्वत पर दीखने वाले धूम से वहाँ पर विद्यमान अग्नि का भी ज्ञान हो जाता है - इसी को 'अनुमान' कहते हैं।[४] इस साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' भी कहते हैं।[५] प्रस्तुत लक्षण में - ज्ञातसम्बन्ध नियम का अभिप्राय 'व्याप्ति' से ही है। अनुमाता जब भी रसोई में धूम को देखता है तब अग्नि भी निश्चित रूप से मिलती है - इस धूमाग्नि सम्बन्ध को निर्धारित करने के बाद जब वह पर्वत पर धूम को देखता है - 'तब यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्रवह्निः' इस व्याप्ति ज्ञान के द्वारा - वहाँ पर भी अग्नि का अनुमान कर लेता है।

---

१. तं०र०, पृ० १०

२. ज्ञात-सम्बन्ध-नियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्।
एक देशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते।। - प्र०पं० अनु० परि०, पृ० १९६ / तं०र०, पृ० १० पर उद्धृत

३. सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः। - त०सं०, पृ० ५७

४. तं०र०, पृ० १० (प्र०परि०)

५. यत्रयत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्य नियमो व्याप्तिः। - त०सं०, पृ० ४८

व्याप्ति ग्राहक निर्णय

रामानुज कहते हैं कि पर्वत गत धूमाग्नि सम्बन्ध नियम का निर्धारण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता - क्योंकि प्रत्यक्ष में उसके विषय की साक्षात् प्रतीति होती है। अस्वतन्त्र होने से इसमें - मानस प्रत्यक्ष को भी साधन नहीं माना जा सकता। भूयो दर्शन-रूप संस्कार-साहचर्य भी स्मृति मात्र का हेतु होने से - इस सम्बन्ध नियम में शक्त नहीं हो सकता। फिर किसे माना जाये? रामानुज का मत है कि प्रथम तो धूमाग्नि का संयोग प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है। वह संयोग द्रव्य के विशेषण के रूप में होता है क्योंकि संयोग को गुण माना गया है और गुण हमेशा द्रव्य के अधीन रहते हैं। धूमाग्नि विशेष्य है। देश और काल भी संयोग की तरह द्रव्य के ही विशेषण हैं- ये संयोग के विशेषण नहीं हैं। क्योंकि - ये दोनों संयुक्त हैं ऐसी प्रतीति होती है न कि - 'इन का संयोग है' - ऐसी। देश और वर्तमानकालता का सामीप्य ही 'इदन्ता' है। यह भी द्रव्य पर ही आश्रित है।[१] सर्वप्रथम तो रसोई आदि में धूम और अग्नि का संयोग - जोकि देशकाल से अविच्छिन्न प्रतीत नहीं होता है इसीलिए यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। तत्पश्चात् अग्नि का धूम के साथ सम्बन्ध - धूम मात्र के साथ बंधा हुआ ज्ञात होता है।[२] कालान्तर और स्थानान्तर में वह धूम की सत्ता ही प्रमाण की अपेक्षा रखेगी - न कि धूम के रहने पर - अग्नि संयोग, क्योंकि अग्नि तो धूम मात्र से अनुबन्धित है जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि भी होगा - यह तो रसोई में पूर्वतः ज्ञात है।

धूमाग्नि सम्बन्ध ज्ञान के पश्चात् ही - धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव ज्ञात होने पर गृहीतग्राही होने पर ही धारावाहिक के समान, अनुमान का भी प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है।[३]

पार्थसारथि मिश्र ने अनुमान में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को

---

१. तं०र०, पृ० १०
२. वही, पृ० १०
३. तं०र०, पृ० १०, प्र०परि०

नहीं माना है।[१] रामानुज ने इस धारावाहिक आनुमानिक अनुभूति को 'प्रामाण्य' कहा है।[२] भाट्ट व्याप्ति को भी भूयोदर्शनगम्य मानते हैं।[३]

रामानुज के अनुसार धूमाग्नि के सम्बन्ध-नियम में प्रथम प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। भूयोदर्शन से तो उसके निरुपाधिकत्व का निश्चय किया जाता है - क्योंकि यत्नपूर्वक खोजने पर भी उपाधि बड़ी कठिनाई से ज्ञात होती है - अतः भूयोदर्शन का भी सप्रयोजन होने से गुरुमत में स्वीकार किया गया है।[४]

नन्दीश्वर के मत में - सकृद्-दर्शन-गम्या-व्याप्तिरिति प्रतिपाद्यते।[५] इन्होंने भूयोदर्शन को औपाधिक शंका निरास के लिए माना है - व्याप्ति के लिए नहीं।[६] जब धूमाग्नि सम्बन्ध का किसी समय व्याघात हो जाता है तब औपाधिकत्व को उसमें कारण समझना चाहिए। आर्द्रेन्धन संयोग को 'उपाधि' कहते हैं। व्याप्यव्यापक (धूमाग्नि) सम्बन्ध की जहाँ निरुपाधिक प्रतीति हो - उसी को प्रमाण मानना चाहिए। शालिकनाथ भी ऐसा ही मानते हैं।[७]

सम्बन्धनियम में अस्वाभाविकत्ववादी मत का निरास

रामानुज ने 'तत्राचार्यमतपक्षपातिनः केचिदाहुः' के द्वारा भाट्ट मतानुयायी पार्थसारथि की ओर संकेत है। भाट्ट सम्बन्ध-नियम में अस्वाभाविकता मानते हैं। अग्नि और धूम संयुक्त 'थे', 'हैं' और 'रहेंगे'- यह संयोग का

---

१. .... कालान्तरसम्बन्धस्यानुमानेन ग्रहणे गृहीतग्राहित्वमनुमानस्य इरापास्तं स्यात्। - न्या०र० (व्याप्तिवाद), पृ० ६६

२. तं०र०, पृ० १०

३. स्वयं वार्तिककारेणप्रमाणमुपदर्शितम्।
भूयो दर्शन-गम्या हि व्याप्तिरित्यभिधानतः।। - न्या०र० (व्या०वा०), पृ० ७०

४. तं०र०, पृ० १०, प्र०पं०, अनु०परि०, पृ० २०५

५. प्र०वि०, पृ० ९८

६. तदा भूयोदर्शनादेव शङ्कानिरासमात्रं क्रियते - न व्याप्तिग्रहणम्। - प्र०वि०, पृ० ९९

७. यः कश्चिद्येन यस्येह सम्बन्धो निरुपाधिकः।
प्रत्यक्षादि-प्रमा-सिद्धस्स तस्य गमको मतः।। - प्र०पं०, पृ० २०५

कालत्रयावच्छेद है। यह आवश्यक नहीं कि देशकाल की निकटता रूप इदन्ता से ही काल निर्देश हो - लट्-इत्यादि प्रत्ययों से भी सम्यक् प्रकार से कालविभाजन का निर्देश होता है। देश और काल से संयोगगत विच्छेद यदि ज्ञान न भी हो सके तब भी - सम्बन्धनियम में स्वाभाविकत्व अप्रामाणिक है। वस्तु के रहने पर भी ज्ञान न होने से - उसमें अभाव सिद्ध नहीं होता अतः उस संयोग विच्छेद के कारण स्वाभाविकत्व सिद्ध नहीं होता[१] - यह पूर्वपक्ष है।

रामानुज के अनुसार - लट् - आदि के द्वारा काल का अवच्छेद निवारण नहीं किया जा रहा है, क्योंकि उसका तो व्याप्ति की प्रतीति में कोई प्रयोग नहीं - अपितु व्याप्ति ज्ञापक-प्रमाण से संयोग का कालावच्छेद ज्ञात नहीं होता यह कहा गया है। अवच्छेद का ज्ञान न होने मात्र से भी स्वाभाविकत्व नहीं कहा जा रहा - भूयो-दर्शन भी उसमें सहायक है। अतः निरुपाधिक होना निश्चित होने पर स्वाभाविकत्व परिशेषतः सिद्ध हो जाता है।[२] वस्तुतः संयोगादि गुण होने से द्रव्याधीन रहते हैं - द्रव्य ही स्वतन्त्र है अतः उसी में अवच्छेदकता होनी चाहिए और जहाँ विशेषण भूत संयोगादि में कालावच्छेद होता है - वहाँ औपाधिकत्व के कारण होता है।[३]

१.२१ अनुमान विभाग

अनुमान स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है[४]-

स्वार्थानुमान - जब अनुमाता स्वयं महानसादि में धूमाग्नि सम्बन्ध की खोज करके पर्वतस्थ धूम से अग्नि की अनुमिति प्राप्त करता है उसे 'स्वार्थानुमान' कहते हैं।

परार्थानुमान - जब कोई व्यक्ति स्वयं जानते हुए दूसरे के लिए प्रतिज्ञा

१. अनिश्चिते चावच्छेदाभावे, न स्वाभाविकत्वं सिध्यति। - न्या०र०मा० व्याप्ति०, पृ० ६५
२. तं०र० (प्र०परि०), पृ० ११
३. तं०र० (प्र०परि०), पृ० ११
४. तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। - वही, पृ० ११

आदि वाक्यों का प्रयोग करके अनुमिति का बोध कराता है उसे- 'परार्थानुमान' कहते हैं।[१]

१.०२ प्रतिज्ञा आदि तीन ही अवयव

अनुमान में प्रयुक्त अवयव के विषय में दार्शनिकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहा है। कुमारिल भट्ट और उसके अनुयायी या तो प्रारम्भ के तीन (प्रतिज्ञा - हेतु - उदाहरण) अथवा अन्त के तीन (उदाहरण - उपनय - निगमन) को ही मानते हैं।[२] नैयायिक पाँच[३] और बौद्ध उदाहरण और उपनय- इन दो अवयवों को ही मानते हैं।[४]

रामानुज ने अनुमान वाक्य के तीन अवयव माने हैं- १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. और उदाहरण।[५] प्रतिज्ञा सर्वप्रथम प्रयुक्त होती है। हेतु और उदाहरण के प्रयोग-क्रम का कोई नियम नहीं है अर्थात् ये पूर्व अथवा पश्चात् भी प्रयुक्त हो सकते हैं। धूम को देखकर व्याप्ति सम्बन्ध को स्मरण करते हुए भी अग्नि का अनुमान हो जाता है और व्याप्ति सम्बन्ध पूर्वक धूम को देखकर भी अग्नि का अनुमान हो जाता है। हेतु और उपनय में से किसी एक के प्रयोग से भी साध्य के सिद्ध हो जाने से - दोनों का ग्रहण प्रभाकर मीमांसा की दृष्टि से व्यर्थ है।[६] जैसे - 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य में 'धूमत्वात्' हेतु का प्रयोग हो जाने पर 'तथा धूमवांश्चायम्' इस उपनय वाक्य का कोई प्रयोजन नहीं रहता - केवल पुनरुक्ति मात्र ही है। इसी प्रकार ग्रन्थकार रामानुज ने निगमन को भी प्रतिज्ञा की ही पुनरुक्ति होने से अनर्थक ही कहा है - क्योंकि साध्य की

१. स्वयमनुसंहिततया सामग्र्या अनुमानोत्पत्तिः स्वार्थम्। पर-प्रयुक्त- वाक्योद्बोधितया तु परार्थम्। - वही, पृ० ११
२. मा०मे०, पृ० ७०
३. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। - न्या०सू० १-१-३२
४. मा०मे०, पृ० ७०
५. तं०र०, प्र०परि०, पृ० ११
६. वही, पृ० ११

सिद्धि के लिए हेतु से ही पर्याप्त बल मिल जाता है।[१]

१.०३ वैधर्म्य दृष्टान्त का अननुमानाङ्गत्व

रामानुज ने वैधर्म्य दृष्टान्त को अनुमान का अंग नहीं माना।[२] ग्रन्थकार के मत को स्पष्ट करने से पहले व्यतिरेक व्याप्ति क्या है? – यह जानना भी प्रसंगानुकूल होगा। साध्याभावव्यापकी भूताभाव-प्रतियोगित्वं व्यतिरेक-व्याप्तिः – अर्थात् साध्य (अग्नि) के अभाव में तत्सहचारी साधन (धूम) का अभाव रूप जो प्रतियोगित्व है वह – व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है।[३]

रामानुज के मत में जब साधर्म्य दृष्टान्त से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, तब वैधर्म्य की क्या आवश्यकता है[४] अतः नैयायिक प्रभृति वैधर्म्य दृष्टान्त का जो प्रयोग करते हैं वह वृथा गौरव मात्र है। यदि कोई कहे कि यह भी साध्यसिद्धि का विकल्प है – तो अतुल्य होने से यह कहना भी ठीक नहीं। एक (अन्वय) सीधा और सरल मार्ग है दूसरा (व्यतिरेक) टेढ़ा माग्र है। टेढ़े का अनुसरण कौन करेगा क्योंकि विकल्प हमेशा समान वस्तुओं में ही होता है। अतः इस केवल व्यतिरेक को भाट्ट प्रभृति कुछ मीमांसक भी सहन नहीं करते। क्योंकि साध्य साधन का सम्बन्ध अन्वय दृष्टान्त में प्रसिद्ध है – व्यतिरेक में तो उसका अभाव ही है।

१.०४ अनुमान का फल

प्रत्यक्ष के समान अनुमान में भी जब अनुमिति को ही भाव अर्थ में अनुमान कहा जायेगा तब हानोपादान आदि बुद्धि फल होगी और जब 'अनुमीयते-अनेनेति' – इस प्रकार की करणमूला व्युत्पत्ति की जायेगी तब ज्ञानादि को करण नहीं माना जायेगा।

---

१. तं०र० (प्र०परि०), पृ० ११
२. ..... वैधर्म्यदृष्टान्तोऽपि नानुमानाङ्गम्। – वही, पृ० ११
३. वे०परि० (अनु०परि०), पृ० १४९
४. तं०र० (प्र०परि०), पृ० ११

सर्वत्र लैंगिक-विषया प्रवृत्ति ही फल है। अनुमान विषयक विस्तृत विवेचन शालिकनाथ ने प्रकरण-पञ्चिका में भी किया है।[१] प्रस्तुत ग्रन्थ के विवेचन में विस्तार भय से सैद्धान्तिक परिशीलन मात्र किया गया है।

उपमान

लक्षण

समान वस्तु को देखकर दूसरी समान वस्तु के अन्दर जो सादृश्य है उसका ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। जैसे - 'जिस व्यक्ति ने गाय को देखा है उसके द्वारा वन में गाय के सदृश गवय को देखते हुए गौ गत गवय के समान सादृश्यता का जो ज्ञान है - वही उपमिति है - वह व्यक्ति 'अनेन सदृशी मदीया गौः' ऐसी अनुभूति करता है - जो उपमान से अथवा सादृश्य ज्ञान से ही हो सकती है।[२]

अन्य प्रमाणों में इसका अनन्तर भाव

उपमान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि गाय के साथ चक्षु-सन्निकर्ष उस समय नहीं रहता। इसे स्मृति भी नहीं कह सकते क्योंकि गवय को देखने से पूर्व यदि कहीं पर पूर्व दृष्ट गाय को स्मरण किया जाये तब तो वह स्मृति है लेकिन यहाँ पर गाय का स्मरण गोमात्र ज्ञान का नहीं है अपितु गवय पूर्वक है। उपमेय और उपमान के ज्ञान के बीच में व्याप्ति का सहयोग नहीं लिया गया अतः व्याप्ति के अभाव में अनुमान भी नहीं कह सकते।[३]

नैयायिक मान्यता का निरास

रामानुज कहते हैं कि 'गो - सदृशो गवयः' - इस प्रतीति में ऐन्द्रियक सादृश्य ज्ञान होने से इसके उपमानत्व का निरास हो जायेगा।[४]

---

१. प्र०पं० अनुमान परि०, पृ० १९६-२२८ तक

२. तं०र०, पृ० १२

३. तं०र०, पृ० १२

४. सदृशदर्शनादित्यनेनैन्द्रियकसादृश्यज्ञानस्योपमानत्वनिरासः। - वही, पृ० १२

नैयायिक गाय के सादृश्य से गवय को देखकर 'उपमान' मानते हैं लेकिन प्राभाकरों की दृष्टि में गवय को देखकर उसकी समानता गाय के साथ करने से उपमान सिद्ध होता है - यही इन दोनों मतों में अन्तर है।[१]

अर्थापत्ति-प्रमाण विवेचन

किसी वस्तु की सिद्धि अर्थान्तर की कल्पना के बिना अनुपपन्न हो रही हो वहाँ अर्थापत्ति प्रवर्तित होता है। जैसे - 'जीवन् देवदत्तो गृहे नास्ति' यहाँ पर गृहाभाव के देखे या सुने जाने पर बहिर्भाव की कल्पना की जाती है क्योंकि बहिर्भाव की कल्पना के बिना गृहाभाव देवदत्त के जीवन को अनुपपन्न कर रहा है।[२] शालिकनाथ ने इसीलिए इसे कल्पना कहा है।[३]

रामानुज ने इस अनुपपत्ति को सन्देह कहा है - इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब तक बहिर्भाव की कल्पना नहीं की जाती और यह भी निश्चय हो जाये कि वह घर पर नहीं है तब जीवित भी है या नहीं- यह सन्देह आकर खड़ा हो जाता है। बहिर्भाव की कल्पना के बाद वह सन्देह शान्त हो जाता है - अतः तन्त्ररहस्यकार ने स्पष्ट रूप से इस अर्थापत्ति को सन्देह का व्यावर्तक प्रमाण माना है।[४] कुछ लोग इसे अन्यथानुपपत्ति की संज्ञा भी देते हैं।[५]

अर्थापत्ति प्रमाण में बहिर्भाव की कल्पना प्रमा है। और कल्प्यमान अर्थ प्रमेय है। जीवित देवदत्त की घर पर अनुपस्थिति ही कल्प्यमान होने से वही प्रमेय है।[६] कल्प्यमान का साधन अर्थापत्ति और कल्पयिता प्रमाता है।

अर्थापत्ति पर अधिकांश दार्शनिकों ने विचार किया है। सर्वप्रथम

---

१. द्र० तर्कभाषा (गजाननशास्त्री मुसलगांवकर), पृ० १८४
२. अर्थान्तरकल्पनायामसत्यां योऽर्थान्तरमनुपपन्नं कुरुते तत्रार्थापत्तिः प्रवर्तते। यथा 'जीवन् देवदत्तो गृहे नास्ति' इत्यत्र गृहाभावे दृष्टे श्रुते वा। - तं०र०, पृ० १२
३. .... सार्थापत्तिस्तु कल्पना।। - प्र०पं०, अर्था०परि०, पृ० २७२
४. अर्थसन्देहापादकोऽर्थः प्रमाणम्। - तं०र०, पृ० १२
५. वे०परि०, पृ० २६६, त०भा०, पृ० ११५
६. तं०र०, पृ० १२

शबर ने दृष्ट और श्रुत अर्थ को सिद्ध करने के लिए अर्थान्तर की कल्पना को अर्थापत्ति कहा है।[१]

कुमारिल ने शबर के दृष्ट और श्रुत पदों से प्रत्यक्ष - आदि प्रमाणों का ग्रहण किया है। कुमारिल के अनुसार जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमित होकर अपनी अनुपपत्ति द्वारा अर्थान्तर की कल्पना करे वह अर्थापत्ति है।[२]

कुमारिल ने अर्थापत्ति में सन्देह को कोई स्थान नहीं दिया क्योंकि सन्दिग्ध जीवन से बहिर्भाव की कल्पना नहीं हो सकती - नारायणभट्ट कहते हैं कि मरण की आशंका में 'बहिरस्ति' का विचार कैसे बनेगा?[३] अतः अनुपपद्यमानता का ज्ञापक संशय बहिर्भाव में कारण नहीं बन सकता परस्पर विरुद्ध होने से।

नैयायिकों ने अर्थापत्ति का केवल व्यतिरेकी अनुमान में ही अन्तर्भाव करने का प्रयत्न रखा है[४]- वे गृहाभाव को लिङ्ग मानकर बहिर्भाव का अनुमान कर लेते हैं।

मीमांसक और वेदान्ती अनुमान के केवलव्यतिरेकी भेद को स्वीकार नहीं करते। सामान्यतः अनुमान प्रमाण के प्रसंग के प्रसंग में जैसा कि कहा जा चुका है।

सर्वप्रथम न्यायसूत्र पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने अविनाभाव वृत्ति द्वारा समुदाय से समुदायी का ज्ञान अनुमान बताते हुए अर्थापत्ति को भी अनुमान ही कहा है।[५]

---

१. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।
जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना।। - शा०भा० १-१-५, पृ० ३८

२. श्लो०वा०, अर्था०परि०, श्लो० १

३. मृतत्वस्यापि शंकायां अहिरस्तीति धीः कथम्? - मा०मे०, पृ० १२५, अर्था०परि०, श्लो० १४९

४. ननु गृहाभावदर्शनाद्बहिर्भावकल्पनमनुमानमेव। - तं०र०, पृ० १२

५. न्या०सू० - वात्स्यायन भाष्य (२-२-२), पृ० १३९

न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन ने अर्थापत्ति को केवलव्यतिरेकी अनुमान में ही अन्तर्भूत माना है। यथा -

प्रतिज्ञा - देवदत्तः बहिरस्ति,

हेतु - जीवित्वे सति गृहेऽविद्यमानत्वात्,

उदा॰ - यस्तु न बहिर्भवति नासौ जीवित्वे सति गृहेऽविद्यमानो भवति,

यथा गृहे विद्यमानो जीवी यज्ञदत्तः। उपपादकी-भूत अर्थ के अभाव में अनुपपाद्यमान अर्थ का भी अभाव रहता है - उक्त अनुमानवाक्य में वहिर्भाव के अभाव में घर में अविद्यमानता का भी अभाव होने से यह 'केवल-व्यतिरेक' अनुमान है।[१]

केशवमिश्र ने भी 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य में पीनत्व को देखकर रात्रि भोजन का अनुमान किया है - क्योंकि साध्य (रात्रि भोजन के अभाव में दिवा भोजी न होने पर पीनत्व का अभाव - 'केवल-व्यतिरेकी' अनुमान ही बनता है।[२] इनकी दृष्टि में अलग से अर्थापति की कल्पना से फिर क्या लाभ है?

न्याय सिद्धान्त मुक्तावलीकार विश्वनाथ पञ्चानन के अनुसार देवदत्त का घर पर न होना प्रत्यक्ष से ज्ञात है और ज्योतिषी द्वारा निर्धारित शतवर्षीय जीवन अथवा वेदोक्त - आप्त प्रमाण से निर्धारित सौ वर्ष का जीवन-मरण की शङ्का को दूर करता है - ऐसी स्थिति में घर पर न होने पर उसका शतवर्ष जीवित्वन्यथानुपत्ति से बहिर्भाव की कल्पना कराता है।[३] इस कल्पना को विश्वनाथ ने व्यतिरेकव्याप्ति कहतेक हुए - अलग से अर्थापत्ति को अभीष्ट नहीं माना।

---

१. न वार्थापत्तिर्मानान्तरम्, तदेवाह -
अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः।। - न्या॰कु॰ ३।१९, पृ॰ १३८-३९

२. त॰भा॰ अर्थापत्तिखण्डम्, पृ॰ ११६

३. न्या॰सि॰मु॰, पृ॰ ४६९

प्राभाकर मत के आचार्यों ने अर्थापत्ति के विषय में अन्य मतों को दृष्टि में रखकर जो चिन्तन प्रस्तुत किया है वह अतिसूक्ष्म एवं सारगर्भित नवीन आयाम है जिस सन्देह के चौराहे पर खड़े होकर प्राभाकर अर्थापत्ति के विषय में यथार्थ पथ को देखने का प्रयत्न करते हैं - दूसरे मत वाले उस सन्देह के बिना ही ऋजुमार्ग खोजने का प्रयास करते हुए दृष्टिगत होते हैं।

रामानुज कहते हैं कि 'देवदत्तो बहिरस्ति गृहे अविद्यमानत्वे सति जीवनत्वात्' - इस अनुमान वाक्य में जीवनांश सन्दिग्ध है[१] उस सन्देह से बचा नहीं जा सकता। यदि यह कहा जाए कि - ज्योतिषी या वेदोक्त वाक्य से जीवन सन्देह का विषय नहीं बनेगा किसी सीमा तक यह सत्य है लेकिन ज्योतिषी या वेदोक्त वाक्य की बात जब तक देवदत्त का घर से सम्बन्ध था तभी तक प्रामाणिक थी लेकिन अब जबकि देवदत्त का घर से सम्बन्ध निवृत्त है और बहिर्देश अभी कल्पना का विषय ही नहीं बन पाया है - तब इस क्षण जीवन के विषय में सन्देह निश्चित् ही होगा। रामानुज कहते हैं[२] कि प्रमाणों से सिद्ध वस्तु भी जब पूर्व-प्रतिपन्न रूप से रूपान्तर को प्राप्त हो जाती है तब उसके निर्धारण में सन्देह होता ही है। यथा 'पूर्वं जीवन् देवदत्तो गृह एव दृष्टः। इदानीं स गृहे नास्ति। जीवति वा न वा इति' इस सन्देह से मुक्त नहीं हो सकते।[३] अतः जीवनांश सन्दिग्ध होने से अनुमान का हेतु नहीं बन सकता।

ग्रन्थकार रामानुज कहते हैं कि यदि कोई यह कहे कि बहिर्देश की कल्पना से असन्दिग्ध जीवन ही अनुमान का लिङ्ग है तो यह भी उचित नहीं - क्योंकि फिर अनुमेय ही क्या रह गया? बहिर्देश सम्बन्ध ही अनुमेय था उसी का निर्णय कर लिया - अतः अनुमेय तो शेष कुछ रहा ही नहीं।

---

१. जीवनांशे सन्दिग्धासन्दिग्धत्वात् (सन्दिग्धत्वात्) - तं०र०, पृ० १२

२. प्रमिते हि वस्तुनि पूर्वप्रतिपन्नरूपाद्रूपान्तरप्राप्तौ सन्देहो भवत्येव। पूर्वं हि जीवनं गृहसम्बद्धमेव प्रमितम्। सम्प्रतितत्सम्बन्धे निवृत्ते बहिर्देश सम्बन्धे चाकल्पिते जीवने सन्देहो भवत्येव। - तं०र०, पृ० १२

३. वही, पृ० १२

केवलगृहाभाव को भी लिङ्ग नहीं माना जा सकता।[१] क्योंकि वह मृत और जीवित - दोनों में व्यभिचरित है - रामानुज के इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए नन्दीश्वर ने लिखा है कि गृहाभाव जीवित का लिङ्ग बने यह आवश्यक नहीं क्योंकि वह तो मृतकों का भी लिङ्ग बन सकता है।[२] शालिकनाथ मिश्र ने भी गृहाभाव के लिङ्गत्व का खण्डन किया है।[३]

रामानुज कहते हैं कि[४] धूमादि कभी भी किसी अर्थ के संशय को दूर करने के द्वारा लिङ्ग नहीं बनते हैं। अतः अर्थापत्ति को अनुमान कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। सन्देह का व्यावर्तक प्रमाण ही अर्थापत्ति है।[५] अर्थापत्ति से सम्बन्धित एक अन्य उदाहरण - 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' है। यहाँ पर भी रात्रि भोजन की जब तक कल्पना नहीं की जाती तब तक पीनता सन्दिग्ध रहती है। रात्रि भोजन की कल्पना के बाद संशय की निवृत्ति हो जाती है। इस रात्रि भोजन की कल्पना में अर्थापत्ति ही प्रमाण है। शालिकनाथ ने भी यही माना है - रामानुज ने भी इनको प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत किया है।[६]

तन्त्ररहस्यकार ने अपने विषय की पुष्टि के लिए तथा प्रकृतोपयोगी होने से एक अन्य मत को भी उद्धृत किया है। तदनुसार जो वस्तु अर्थान्तर की कल्पना के बिना प्रतीत होती हुई पूर्वदृष्ट स्वरूप के परिवर्तन से संशय रूप अनुपपत्ति को प्राप्त हो जाती है वह वस्तु अपने सन्देह को दूर करने के लिए अर्थान्तर कल्पना में प्रमाण है - जैसे पूर्वोक्त बहिर्भाव कल्पना रूप जीवन-सामान्य और भोजन आदि। अनुमान में हेतु असन्दिग्ध होने से

---

१. तं०र०, पृ० १२-१३

२. यदपीदमुद्भावितम् - बहिर्भावोऽगृहाभावेनानुमीयत इति, तदतिमन्दम्, न हि गृहाभावमात्रं लिङ्गम्, मृतेष्वपि दृष्टत्वात्। - प्र०वि० अर्था०, पृ० ५५

३. प्र०पं० अर्थापत्ति०, पृ० २७४

४. तं०र०, पृ० १३, प्र०परि०, पृ० १३

५. केवल गृहाभावोऽपि न लिङ्गम्। मृतजनिष्यमाणयोर्व्यभिचारात्। अतोऽत्र नानुमानावकाशः। अतः सन्देहापादकोऽर्थोऽर्थापत्तिरिति स्थितम्। - तं०र०, पृ० १३

६. तत्सन्देह व्युदासाय कल्पना या प्रवर्तते।
सन्देहापादकादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता।। - प्र०पं०, अर्था०परि०, श्लो० २

तथा अर्थापत्ति में सन्दिग्ध होने से - दोनों एक जैसे नहीं हैं। शालिकनाथ ने इस मत में एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[१]

रामानुज ने गृहाभाव को ही बहिर्भाव में प्रमाण मानने वाले मत को भी उद्धृत किया है। ग्रन्थकार ने इसका भी खण्डन किया है क्योंकि गृहाभाव की क्या अनुपपत्ति हो सकती है - जहाँ अर्थापत्ति प्रयुक्त हो सके? बहिर्भाव के न होने पर ही अपना अभाव होना यदि अर्थ लिया जाये तब तो साध्य के अभाव में हेतु का अभाव रूप व्यतिरेक अनुमान ही हो गया और हेतु के रहने पर साध्य का सद्भाव अन्वय हो गया - इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के रूप में यह तो अनुमान ही हो गया फिर अर्थापत्ति का पृथक् प्रामाण्य कहाँ रहा? अतः अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानते हुए रामानुज ने इसे सन्देह का व्यावर्तक प्रमाण माना है।[२]

१.०१ अर्थापत्ति के भेद के विषय में रामानुज का मत

गुरु मत को छोड़कर अधिकतर दार्शनिक दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति भेद से अर्थापत्ति को दो भागों में विभक्त करते हैं। सम्भवतः शाबर भाष्य में अर्थापत्ति के लक्षणगत दृष्ट और श्रुत पदों से ही यह भेद द्वय प्रारम्भ हुआ हो। रामानुज ने इन दोनों में से दृष्टार्थापत्ति को ही माना है।[३]

जब अर्थ की अनुपपत्ति प्रमाणान्तर से प्राप्त हो तब वहाँ अर्थान्तर की जो कल्पना की जाती है उसे रामानुज ने 'दृष्टार्थापत्ति' कहा है।[४] वेदान्त परिभाषाकार ने इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए बताया है कि रजत को देख कर उसे हाथ में लेने के बाद यह रजत नहीं है यहाँ पर सन्देह होता है कि यदि यह रजत होता तो इसका निषेध क्यों होता? इस

---

१. यत्कल्पना विना योऽर्थः प्रतीतोऽप्येति संशयम्।
तेन तत्कल्पनामेके त्वर्थापत्तिं प्रचक्षते।। - प्र०पं० अर्था०परि०, श्लो० ३

२. अतस्सन्देहापादकोऽर्थस्तेनापादितसन्देहोऽर्थो वार्थापत्तिरिति स्थितम्।। - तं०र०, पृ० १३

३. तं०र०, पृ० १३

४. यत्रार्थानुपपत्तिः प्रमाणान्तरप्रतिपन्ना तत्रार्थान्तरमेव कल्प्यमिति सा 'दृष्टार्थापत्तिः'। - तं०र०, पृ० १३

संशय का निवारण अर्थापत्ति से मिथ्यात्व की कल्पना से हो जाता है।[१] जिसे प्राभाकर व्यवहार का बाध होना कहते हैं। यहाँ पर अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होने से 'दृष्टार्थापति' है।

कुमारिल ने दृष्टार्थापत्ति के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के आधार पर छः भेद माने हैं। यथा - कोई व्यक्ति अगर अग्नि को छूता है तो उसका दाहकत्व प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है उसके दाह के ज्ञान के बाद उस दाहक शक्ति की जो कल्पना की जायेगी - वह 'प्रत्यक्षपूर्विका' **अर्थापत्ति** होगी।[२]

अर्थापत्ति के दूसरे भेद को ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष में रखकर उसका खण्डन किया है।[३] बृहतीकार[४] प्रभाकर मिश्र ने भी भाष्यगत 'श्रुत' शब्द को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। इन्होंने 'अभिधानान्तरमेवेदम्' ऐसा कहते हुए - दोनों ही शब्दों को उपलब्धिवाचक माना है। बृहती पर पञ्चिका के रचयिता शालिकनाथ ने भी दृष्टार्थ को ही पुष्ट किया है।[५] त्रुतार्थापत्ति को मानने वालों का यह कहना है कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य में - 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की ही कल्पना होती है। शब्द की आकांक्षा शब्द से ही पूरी होती है - यह न्याय भी है - अतः यहाँ श्रुतार्थापत्ति मानी जानी चाहिए।[६] रामानुज के अनुसार यह ठीक नहीं - क्योंकि जिसकी कल्पना न करने से तो अनुपपत्ति ही बनी रहती हो और कल्पना कर लेने पर वह अनुपपत्ति शान्त हो जाती हो - तब उस अर्थ को

---

१. वे० परिभाषा, पृ० २४८

२. तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद् दाहाद् दहनशक्तता।
वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोग्यता। - श्लो०वा०, अर्थापत्ति ३

३. तं०र०, पृ० १३

४. बृहती- १-१-५, पृ० ११५

५. ननु श्रुतार्थापत्तावपि श्रुतो दिवाभोजनाभावो रात्रिभोजनं विना पीनत्वस्यानुपपन्नत्वे सत्यनुपपद्यमानो रात्रिभोजनमेव कल्पयति न शब्दम्; न हि शब्देन विनार्थस्यानुपपत्तिः, किंतु अर्थेनैव। - बृहती (पञ्चिका), पृ० ११५

६. तन्त्ररहस्यकार द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष - अत्र केचिदित्यादि। - तं०र०, पृ० १३

ही कल्प्य कहा जायेगा।[१] अतः यहाँ पर भी अर्थ ही कल्प्य मानना युक्ति-संगत है। रामानुज के मत में अव्युत्पन्न पदों एवं वाक्यों के प्रयोग से सन्देह जन्य अनुपपत्ति कभी भी शान्त नहीं हो सकती और यदि पदार्थ का ज्ञान हो तो वह शान्त हो जाती है अतः अर्थ की परिकल्पना ही उचित है यदि दो परिकल्पनाएँ मानी जायेंगी तब तो गौरव-दोष आने लगेगा और युक्तिसंगत भी नहीं।[२]

गुरु-सम्प्रदाय के मत में अर्थबोध में शब्द की सन्निधि अर्थबोध का उपलक्षणं (कारण) नहीं है, क्योंकि लोक में अर्थ से भी सम्बन्ध दर्शन (अन्वय) देखा जाता है, जिसमें अर्थ का अध्याहार किया जाता है।[३] शब्द प्रमाण के विवेचन में इसकी विशेष चर्चा की गई है। रामानुज के अनुसार शाब्दी आकांक्षा निश्चय ही अर्थ के अन्वय से शान्त हो जाती है क्योंकि उसके द्वारा भी अर्थ ही आकांक्षित होता है। शालिकनाथ का अनुसरण करते हुए[४] रामानुज एक उदाहरण द्वारा इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'द्वार' ऐसा उच्चारण होने पर अध्याहार द्वारा बुद्धिस्थ 'संवरण' आदि अर्थ से ही अन्वय हो जाता है, अतः 'द्वार' को सुनने वाला 'संव्रियताम्' इस शब्द का नहीं अपितु अर्थ का ही अध्याहार करता है। क्योंकि बुद्धिस्थ अर्थ से भी वाक्यार्थ सम्बन्ध समुत्पन्न हो जाता है।[५]

शब्द का प्रयोग भी कहीं-कहीं दूसरे के लिए किया जा सकता है-परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है।[६] इससे शब्द के अध्याहार पर विशेष ज़ोर

---

१. .... अर्थस्यैव कल्पयितुमुचितत्वात्। यस्मिन्नकल्पितेऽनुपपतिः कल्पिते तु तच्छान्तिः अतः तदेव कल्प्यम्। - वही, पृ० १३

२. उभयपरिकल्पने गौरवञ्च। - तं०र० (प्र०परि०), पृ० १३

३. सन्निधिश्शब्दजन्मैव व्युत्पत्तौ नोपलक्षणम्।
अध्याहृतेनाप्यर्थेन लोके सम्बन्धदर्शनात्।। - तं०र०, पृ० ३१, प्र०पं० वाक्यार्थमातृका से उद्धृत

४. प्र०पं० (वा०मा०प्र०परि०), पृ० ३९०

५. ..... 'द्वारम्' इत्यादौ अध्याहारस्थले बुद्धिस्थेनैव संवरणादिनाऽन्विताभिधानम्। न तु 'संव्रियताम्' इत्यध्याहृतेन शब्देन। बुद्धिसन्निहितेनाप्यन्विताभिधानोपपत्तेः। तं०र०, पृ० १३

६. तं०र०, पृ० १३

देने वालों का मत निरस्त हो जाता है।[१]

अभाव

अनेक दार्शनिकों ने अभाव को प्रमाण माना है।[२] मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबर ने 'अभावोऽपि प्रमाणाभावो नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य' अभाव का लक्षण प्रस्तुत किया है।[३] पार्थसारथि मिश्र ने 'नास्ति' इस लक्षण में प्रमेय माना[४] और 'प्रमाणाभाव' का अर्थ, जहाँ प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की पहुँच न हो ऐसा माना है।[५]

भाट्टमतानुयायी नारायण भट्ट ने प्रमाणाभाव और स्मरणाभाव-भेद से इसे दो प्रकार का माना है।[६] घटभूतल पर नहीं है - यदि होता तो पट के समान प्रत्यक्षादि से ज्ञात होता - यह प्रमाणाभाव है। किसी के यह पूछने पर कि - क्या तुमने माथुर को प्रातःकाल देखा था - उस समय योग्य स्मरण के अनुदय से प्रातःकालीन उस माथुर के अभाव का ज्ञान हो जाता है - यह ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं स्मरण के आधार पर था - अतः स्मरणाभाव कहाता है जैसाकि पार्थसारथि मिश्र ने भी माना है।[७] नारायण भट्ट और सर्वज्ञात्ममुनि योग्यानुपलब्धि को ही अभाव कहा है।[८] कई बार विद्यमान वस्तु के विषय में भी भ्रम के कारण अभाव बता दिया जाता है - वह अभाव नहीं है।

रामानुज तन्त्ररहस्य में सर्वप्रथम अभाव के प्रसंग में अभाव का कोई

---

१. नारायण भट्ट, उदयन, कुमारिल प्रभृति।
२. कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र, नारायण भट्ट प्रभृति भाट्ट।
३. शा०भा० १-१-५ जै०सू०।
४. शा०दी०, पृ० १६३
५. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।। - श्लो०वा० अभाव परि०, श्लो० १
६. मा०मे०, पृ० १३० (अनुपलम्भस्तु द्विविधः प्रमाणाभावरूपः स्मरणाभावरूपश्च) द्र० शा०दी०, पृ० १७१ पर डॉ० किशोरदास संस्करण में सुब्रह्मण्यस्वामी की टिप्पणी।
७. शा०दी०, पृ० १७२ (डॉ० किशोर दास संस्करण)
८. योग्यानुपलब्धिनिमित्तकमर्थाभाव-ज्ञानमभाव इति। - प्र०ल०, पृ० ३८ द्र० मा०मे०, पृ० १३०

प्रमेय न होने से उसके प्रमाण न होने की प्रतिज्ञा करते हैं[१] तदनन्तर उन्होंने अभाववादियों के विकल्पों को प्रदर्शित करते हुए अन्त में प्रभाकर परम्परा को दृष्टि में रखते हुए अभाव का निरास किया है।

अभाववादियों का प्रथम तर्क तो यह है कि उनके अनुसार 'इह भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति को क्या माना जाये? क्या भूतल-स्वरूप विषया है अथवा केवल भूतल-विषया है? यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि यह केवल (कैवल्य) क्या है? क्या यह भूतल का स्वरूप है अथवा उसका धर्म? १. यदि इसे घट का स्वरूप मानेंगे तब तो घट के भूतल पर रहने पर भी केवल भूतल ही कहलायेगा - जबकि घट भी रखा है। २. यदि इस कैवल्य को भूतल का धर्म मानें तब भी पूर्वोक्त दोष आने लगेगा- लेकिन इस दूसरी विधा से अभाव को अङ्गीकृत किया जा सकता है।[२]

दूसरी युक्ति यह है कि कण्टक आदि से रहित भूतल में पदन्यास आदि व्यवहार क्या भूतलमात्र के परिच्छेद का निश्चय कराता है अथवा भूतल-परिच्छेद का? पहले की तरह यहाँ पर भी यह विचारणीय है कि यह कैवल्य परिच्छेद का विशेषण है अथवा भूतल का। प्रथम (विशेषण वाली) बात युक्त नहीं क्योंकि फिर तो कंटक आदि से युक्त भूतल में भी कण्टक राहित्य का ज्ञान होने लगेगा। दूसरी बात मानी जाये तब वह भी उचित नहीं लगती है क्योंकि केवल परिच्छेद तो यथाकथञ्चित् परिच्छेद ही है फिर तो सूक्ष्म कांटे आदि का ज्ञान न होने पर भी निशङ्क व्यवहार होने लगेगा और ऐसे अवसर पर प्रयत्नपूर्वक की जा सकने योग्य जिज्ञासा का भी अपलाप हो जायेगा। हाँ इतना अवश्य है कि दूसरी बात के अनुसार अभाव नामक प्रमेय सिद्ध हो जाता है। तभी प्रतियोगी के परामर्श की जिज्ञासा बन सकती है।[३]

---

१. अभावाख्यं षष्ठं प्रमाणमभावग्रहणाय कैश्चिदङ्गीक्रियते .... तदयुक्तम् प्रमेयाभावात्। - तं०र०, पृ० १४

२. तं०र०, पृ० १४

३. तं०र०, पृ० १४ (पूर्वपक्ष)

अभाववादी तीसरी युक्ति यह देते हैं कि यदि अभाव को नहीं माना गया तब 'नास्ति' शब्द निरर्थक हो जायेगा। ऐसी स्थिति में तो शश आदि के सींगों का भी अनुमान होने लगेगा। यदि अभाव और उसका प्रमेय स्वीकार कर लिया तब उक्त समस्याएँ नहीं रहेंगी। अतः भाव से विलक्षण तत्वान्तर अभाव प्रमाण की सत्ता है - यह अभाववादियों की दृढ़ धारणा है।[१]

अब प्रश्न यह है कि वह अभाव प्रत्यक्षादि भाव प्रमाणों से ज्ञेय है अथवा अभाव से ही? अभाव को मानने वाले उसे प्रत्यक्ष से ज्ञेय नहीं मानते क्योंकि इन्द्रिय व्यापार के उपरम होने पर भी वह ज्ञात होता है। कहीं पर किसी के द्वारा किसी के विषय में पूछे जाने पर 'वह यहाँ नहीं है' यह जो उत्तर मिलता है - इसमें उस व्यक्ति को ही इन्द्रियाँ नहीं देख पातीं अभाव को भी न देख पाती हों ऐसी बात नहीं है क्योंकि उस व्यक्ति से तो इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं था अतः अभाव प्रमाण अभाव से ही गोचर मानते हैं।[२]

अभाव से ही अभाव का ग्रहण मानने की अपेक्षा इन्द्रियों से ही अभाव को क्यों नहीं ग्रहण किया जा सकता? इसके उत्तर में कुमारिल भट्ट कहते हैं कि स्वरूप को अनुभव करके कुछ याद करते हुए कोई पुरुष किसी वस्तु के विषय में पूछता है - तब नकारात्मक उत्तर पाकर ही उस अभाव को जान लेता है।[३]

यहाँ पर अभाव तो पहले से था उस पुरुष की बुद्धि में वह बाद में अवस्थित हुआ यह नहीं कहा जा सकता तथा 'निर्विकल्पक' से पहले अनुभूत होकर बाद में 'सविकल्पक' ज्ञान से स्मरण हुआ - यह कहना भी

१. तं०र०, पृ० १४ (पूर्वपक्ष)

२. योऽहनि प्रातः काले गृहेऽवस्थितो मध्यन्दिनसमये पृच्छ्यते- 'किमस्मिन् गृहे प्रातः काले माथुरः कश्चित् पुरुषः शुक्लवासा दीर्घतमोलोहितवर्णः समागतः इति?' सं तदानीमेव योग्यस्मरणानुदयात् तस्याभावं प्रातः कालीनमवधारयति विनैवेन्द्रियव्यापारेण। - शा०दी०, पृ० १७२

३. स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते। - श्लो०वा० (अभाव) २८वां श्लोक

ठीक नहीं - अत: अभाव को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। लिङ्ग न होने से अनुमान भी नहीं कह सकते। अत: पूर्वपक्ष के अनुसार - अभाव प्रमाण स्वतन्त्र है जो अपनी महिमा से ही विषय का उपस्थापन करता है।[१]

१.०१ रामानुज द्वारा अभाव-विवेचन और उसका खण्डन

भूतल आदि की अवगति दो प्रकार से होती है[२]- १. संसृष्ट-विषय वाली और २. तदेक-विषय वाली। दूसरी अवगति भी दो प्रकार की होती है- १. प्रतियोगी दृश्य में और २. प्रतियोगी अदृश्य में। अब इनमें प्रतियोगी के दृश्य में जो तदेक-विषयाबुद्धि है वही उस दृश्य प्रतियोगी का अभाव कहलाता है। दृश्य-प्रतियोगी का अर्थ है - देखे गये का वहाँ न रहना और अदृश्य-प्रतियोगी - जहाँ पहले से ही कोई दृष्टवस्तु न हो नितान्त रिक्तस्थान। जैसे - 'इह भूतले घटो नास्ति' - यहाँ तदेक विषयबुद्धि मात्र को अभाव नहीं कह सकते क्योंकि इतस्तत: जो खाली भूतल है उसमें और इस खाली भूतल मात्र में कोई अन्तर नहीं है यदि ऐसा माना जायेगा तब तो किसी भी स्थान को हम 'इह भूतले घटो नास्ति' कहकर घटाभावयुक्त कह देंगे।[३] अत: रामानुज का मन्तव्य है कि दृश्य प्रतियोगी में अर्थात् जहाँ पहले घट देखा हो - और बाद में उसका न होना पाया गया हो - उसी स्थान में अभाव की बुद्धि बनती है। उस स्थान के विषय में भूतल मात्र का ही ज्ञान नहीं रहेगा क्योंकि वहाँ पर घट देखा जा चुका है- यह अभिप्राय है।[४]

रामानुज की दृष्टि में एकत्र देखी गई वस्तु की अन्यत्र स्थिति ही पूर्वपक्ष वालों का **प्रतियोगी में दृश्यत्व** है यदि ऐसा नहीं माना गया तब अप्राप्त का प्रतिषेध माना जायेगा। अत: अन्यत्र स्थिति ही दृश्यता है।

१. तं०र० (प्र०परि०) पूर्वपक्ष विवेचन

२. तं०र०, पृ० १५

३. तत्र दृश्ये प्रतियोगिनी या तदेकविषयाबुद्धिस्सैव तस्य प्रतियोगिनोऽभाव इत्युच्यते। न हि तदेकविषयबुद्धिमात्रमभाव:। विशेषानवगमात्। किन्तु दृश्ये प्रतियोगिनि। - वही, पृ० १५

४. तेन 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्युक्ते घटे दृश्ये भूतलमात्रं नाबोधीत्युक्तं भवति। - तं०र०, पृ० १५

रामानुज कहते हैं कि हम तो उसको ज्ञान विशेष कहते हैं। जो अभाव को मानते हैं वे भी तदेकविषय बुद्धि से ही उसकी प्रतीति करते हैं क्योंकि अधिकरण का ज्ञान और प्रतियोगी की प्रसक्ति - ये दोनों उस प्रतीति में कारण हैं।[१] यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अधिकरण की प्रतीति उास अभाव के प्रति कारण कैसे है? क्या वस्तु के रहने पर भी उस स्थान (अधिकरण) की प्रतीति अभाव का कारण है अथवा वस्तु रहित स्थान (अधिकरण मात्र) की प्रतीति अभाव का कारण है - या फिर वस्तु-अनपेक्ष स्थान की प्रतीति ही उस अभाव का कारण है। रामानुज कहते हैं - चूँकि घट के रहते हुए भी उस अधिकरण की प्रतीति में उस घट के अभाव की ही प्रतीति का प्रसंग होने से पहली बात नहीं मानी जा सकती। रिक्त स्थान तो आत्माश्रय मात्र ही होता है अतः दूसरा विकल्प भी त्याज्य है - परिशेषतः तीसरा विकल्प ग्राह्य है।[२]

रामानुज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं[३] कि - वस्तु के अभाव को जानकर तद्विशिष्ट अधिकरण के बोध के पश्चात् ही उस अभाव का ज्ञान होता है - अतः यही प्रतीति उस अभाव के अवगम का कारण है। अतः अभाव के प्रतीत न होने पर भी उस अधिकरण के स्वरूप मात्र की प्रतीति होती है यह तीसरा पक्ष ही उचित है।

रामानुज कहते हैं कि इतनी सी प्रतीति मात्र से अभाव का व्यवहार चल सकता है तब अलग से इसको प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है।[४]

प्रस्तुत विषय का निष्कर्ष रामानुज इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि प्रागभाव आदि चार प्रकार के अभावों का दृश्य प्रतियोगी में जो अधिकरण है - वह अधिकरण मात्र का ज्ञान हमारा (प्राभाकरों) का अभाव है। नास्ति शब्द भी उस अधिकरण का ही वाचक है और 'नञ्' का प्रयोग

१. तं०र०, पृ० १५

२. तं०र०, पृ० १५

३. अभावं हि प्रतीत्य तद्विशिष्टमधिकरणं बुद्ध्वा पश्चात्स एवाभावः प्रतिपत्तव्य इत्यभवावगतिरेवाभावावगमकारणं यतः। अतोऽप्रतीतेऽप्यभावे स्वरूपमात्रप्रतीतिरङ्गीकार्येति तृतीयः पक्षः परिशिष्यते। - वही, पृ० १५

४. तं०र०, पृ० १५

भी स्वरूप परक ही है यह प्राभाकरीय मान्यता है।[१]

रामानुज के अनुसार निशङ्कपदन्यास और इहभूतले घटो नास्ति - इत्यादि प्रतीतियों में तदेक विषयाबुद्धि ही निमित्त है। शुक्तिका में रजत व्यवहार और लिङ्ग दीखने पर लिङ्ग-व्यवहार - इनका बाध हो जाता है- प्रत्यक्ष के बाघ में और लिङ्ग के बीच में - इन दोनों में भी तदेक विषया बुद्धि ही निमित्त है। इनमें भी व्यवहार का ही बाघ होता है - ज्ञान का नहीं- यह **प्राभाकरीय मान्यता** है।[२]

यहाँ पर शङ्का यह होती है कि यदि अभाव नहीं है तब जहाँ पहले संसर्गबुद्धि थी वहाँ पर तदेक विषय अर्थात् भूतल स्वरूप विषया बुद्धि कैसे आविर्भूत हो जाती है? यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि हमारे मत में तो मुद्गरा के अभिघात आदि से होती है - रामानुज कहते हैं कि उसी से हमारे मत में भी तदेक विषया बुद्धि बन जाती है। दूसरे स्थान पर ले जाया गया घट ही तदेक विषया बुद्धि का कारण है - यह बात ग्रन्थकार पहले भी कह चुके हैं। इसी प्रकार अनेक बातें अभाववादियों की प्रभाकरों की मान्यता से ही मिलती-जुलती हैं - जिन्हें देखकर अभाव को प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होता।[३]

रामानुज की अभावनिरास विषयक सम्पुष्टी शालिकनाथ के इन वचनों से भी होती है 'प्रमाण किसी न किसी प्रमेय का बोधक होता है। ज़रा सोचिए? अभाव का क्या प्रमेय है? दृश्य प्रतियोगी में भूतल मात्र की प्रतीति ही नास्ति या अभाव है यह तो प्रमाण हो गया अब इसका प्रमेय कौन-सा है? प्रमेय के बिना अभाव को प्रमाण नहीं माना जा सकता।'[४]

---

१. तं०र०, पृ० १५

२. तं०र०, पृ० १६

३. तं०र०, पृ० १६

४. प्रमाणं खलु कस्यापि प्रमेयस्याभाव-बोधकम्।
तत्राभावस्य किं तावत् प्रमेयमिति चिन्त्यताम्। - प्र०पं०, अमृत० अर्थापत्ति० श्लो० २५
नास्तीति शब्दस्तत्रैव स्वसंवेद्ये प्रवर्तते।
तेन नास्तीति विज्ञानन्यायेन न समागतम्।। - वही, श्लो० ५५
मेयाभावे ततो मानमभावाख्यं कथं भवेत्। - वही, श्लो ५६

द्वितीय अध्याय
प्रमेय-रहस्य

रामानुजाचार्य ने अभ्युपगमसिद्धान्तन्याय से महर्षि कणाद-रचित वैशेषिक-दर्शन में वर्णित प्रमेयों को ही स्वीकार किया है- क्योंकि उस शास्त्र की प्रवृत्ति ही उचित प्रमेयों के प्रतिपादन के लिए हुई है। ग्रन्थकार का विचार है कि अलग से कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है इतना अवश्य है कि जो प्रभाकर दर्शन सम्मत विशेष तथ्य हैं उन्हें प्रस्तुत किया गया है तथा अस्वीकार्य अंशों का निराकरण किया गया है।[१]

कुमारिल भट्ट का मत

मीमांसा शास्त्र में इन प्रमेयों के लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुमारिलभट्ट वैशेषिक के समवांय और विशेष - इन दो पदार्थों का निराकरण करते हैं और पाँच पदार्थ स्वीकार करते हैं[२] - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।[३]

प्राभाकर अभाव को नहीं मानते

प्रभाकर उन पाँचों में से अभाव को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उसमें पदार्थ का लक्षण नहीं घटता। पदार्थ धर्म-संग्रहकार प्रशस्तपादाचार्य ने अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व - इन तीनों से युक्त को पदार्थ माना है[४], प्रकृतलक्षणा में अभाव में अस्तित्व न होने से वह पदार्थ नहीं कहला सकता।

---

१. तत्र चाभ्युपगसिद्धान्तन्यायेन कणादतन्त्रसिद्ध एव प्रमेयवर्गोऽङ्गीक्रियते। तस्य तत्प्रतिपादनार्थं प्रवृत्तत्वात्। न तु पृथगत्र व्युत्पाद्यते। तत्राप्यनभिमतांशो निराक्रियते विशेषांशस्तु व्युत्पाद्यते। तं०र०, पृ० १७

२. पूर्वतन्त्र सिद्धान्त रत्नावलीकार ने 'शक्ति' का पदार्थ मानकर भाट्टों के मत में ६ पदार्थ माने हैं।

३. वयं तावत् प्रमेयं तु द्रव्यजाति-गुणक्रियाः।
अभावश्चेति पञ्चैतान् पदार्थानाद्रियामहे।। मा०मे०, पृ० १४२

४. षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि। प०ध०सं०

प्राभाकरों के मत में पदार्थ

प्रभाकर दर्शन में भट्टामित पदार्थों में से चार (द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य) पदार्थों के अतिरिक्त समवाय, शक्ति, संख्या ओर सादृश्य - इन चारों को और मिलाकर आठ पदार्थ माने गये हैं।[१] रामानुजाचार्य ने भी तन्त्ररहस्य में इन आठ पदार्थों की गणना की है।[२]

१. द्रव्य निरूपण

आठ पदार्थों में प्रथम पदार्थ द्रव्य है। वै०सू० कार ने क्रिया या गुण के समवायिकारण को द्रव्य का लक्षण किया है।[३] अर्थात् जिस जिस वस्तु में कार्य की समवायिकारणता पायी जायेगी वह द्रव्य माना जायेगा। 'द्रव्यत्व' जाति उसकी अवच्छेदक है यथा - घटत्व। 'घटत्व' जाति घट की अवच्छेदक है वह घट को अन्य पदार्थों से अलग कर देती है।

परन्तु नैयायिक कुछ विभु पदार्थों का नित्य संयोग मानते हैं - उस स्थिति में जाति (संयोगत्व) कार्य की अवच्छेदक नहीं बन सकेगी? परिष्कृत लक्षण 'जो विभाग की समवायिकारणता का अवच्छेदक हो' उसे **'द्रव्य'** कहते हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है।

प्रभाकर नैयायिकों की तरह व्यक्ति से पृथक् जाति को नहीं मानते बल्कि व्यक्ति में ही जाति अलग से मिली होती है - इसलिए द्रव्यत्व द्रव्य की अवच्छेद नहीं हो सकती। सामान्यतः गुणक्रियात्रयत्व ही द्रव्यत्व का लक्षण है।[४]

द्रव्यों की संख्या के विषय में भी कुमारिल भट्ट और प्रभाकर में मतभेद है। भट्टानुसार द्रव्य ११ हैं[५] इनके कुछ अनुयायी १० ही द्रव्य मानते हैं।[६]

---

१. प्रकरणपञ्चिकाकार ने क्रम को भी प्रभाकराभित पदार्थ माना है।
२. द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्ति-सङ्ख्या-सादृश्यान्यष्टौ पदार्थाः। तं०र०, पृ० १७
३. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य-लक्षणम्। वै०सू० १.१.१५
४. वै०सू० १.१.५ न्या०सि०मु०, पृ० २५, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
५. पृथिवी सलिलं तेजः पवमानस्तमस्तथा। व्योमकालदिगात्मानो मनः शब्द इति क्रमात्। एकादशविधं चैतत् कुमारिलमते मतम्। मा०मे०, पृ० १४४
६. तच्चदशधा। पृथिव्येव तमः इति मिश्राः भाट्टार्काः।, पृ० ४

प्राभाकर शब्द और तम को द्रव्य नहीं मानते। इनके अनुसार ९ द्रव्य हैं। रामानुजाचार्य ने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन- इन नौ द्रव्यों की ही सम्पुष्टि की है।[१]

१.०१ पृथिवी

द्रव्यों में सर्वप्रथम पृथिवी का क्रम है। वै०सू० कार ने - रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली पृथ्वी कहकर[२] गन्ध को पृथिवी का विशेष गुणमाना है[३] - क्योंकि गन्ध से इतर गुणों को भी अगर विशेष गुणों में माना जायेगा तो लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आने लगेगा।[४] अतः अन्नमभट्ट प्रभृति परवर्ती विद्वानों ने 'तत्रगन्धवतीपृथिवी' ही उचित लक्षण माना है।[५] प्र०पा० कार ने 'पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथिवी' कहा है।

पृथिवी दो प्रकार की है - १. नित्य, २. और अनित्य। परमाणु रूप नित्य है और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है।[६] कार्यरूप पृथिवी में पाकज गुण भी हैं - जो अग्नि आदि के संयोग से इसमें आते हैं जैसे घड़े का पककर लाल हो जाना आदि। यह पार्थिव जगत् मीमांसकों की दृष्टि में वेदान्त की तरह मिथ्या नहीं सत्य-स्वरूप है।[७] अणुओं से इसकी उत्पत्ति हुई। उदयनाचार्य ने ईश्वर को अणुओं से जगत् की उत्पत्ति में निमित्त कारण माना है।[८] श्लोकवार्तिककार ने इस अणुवाद को मीमांसा का व्यापक सिद्धान्त नहीं माना।[९]

नन्दीश्वर ने इस परमाणुवाद को सिद्ध किया है[१०] और अन्त में स्पष्ट कहा है कि जो प्रकृतिकारणवादी और ब्रह्मकारणवादी इस परमाणु कारणवाद

---

१. पृथिव्याप्तेजोवाय्वाकाश-कालदिगात्म-मनांसि नव। तं०र०, पृ० १७
२. रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। वै०सू० २.१.१
३. व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः। वै०सू० २.१.२
४. भा०न्या०शा०, पृ० ३७
५. तर्कसंग्रह, पृ० १४
६. वही, पृ० १४
७. तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा। तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत्। शब्द परि० १८६, श्लो०वा०, पृ० ४९२
८. न्या०कु० (उद्धृत भा०द० शास्त्र का इतिहास, पृ० २३९)
९. मीमांसकेश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः। श्लोक० वा०, पृ० ९१-९२, अनुमान परिच्छेद श्लो० १८३
१०. सम्प्रति परमाणुसद्भावः साध्यते। प्र०वि०, पृ० ४३

में दोषों को देखते हैं- वे स्वयं भी समान रूप से दोषी हैं।[१] कार्यरूप पृथिवी के मुख्य रूप से तीन प्रभेद हैं[२], - शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीरोत्पत्ति के विषय में मीमांसकों में मतभेद है - इस मतभेद को दो प्रकार से जाना जा सकता है - १. शरीरों की उत्पत्ति, २. और शरीरों के प्रकार।

शरीरोत्पत्ति में उपादान कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रभाकर मीमांसा को छोड़कर लगभग सभी दार्शनिक पंचभूतों को शरीर का उपादान कारण माना है। भाट्ट मीमांसक भी इसे पंचभूतों का सम्मिश्रण ही स्वीकार करते हैं - क्योंकि इन्होंने इस विषय पर कोई टीका टिप्पणी नहीं की है। परन्तु प्रभाकर शरीर को पंचभौतिक नहीं मानते। पार्थिव परमाणुओं से बना मानते हैं।[३]

रामानुजाचार्य ने भी मत परम्परा के अनुसार शरीर को पार्थिव ही माना है। इनके अनुसार शरीरोत्पत्ति की आरम्भिका पृथिवी ही है।[४] इस बात को लेकर प्रकरणपञ्चिकाकार ने पूर्वपक्षी की ओर से शंका की है कि यदि शरीर पार्थिव है तो इसमें अन्य भूतों का समावेश क्यों मिलता है? फिर तो अग्नि-जलादि का संयोग इसके साथ नहीं होना चाहिए? इसका समाधाान प्र०पं० कार शालिकनाथ मिश्र तर्कपूर्ण ढंग से करते हुए कहते हैं कि - यदि एक भूत दूसरे भूत के साथ रहता है तो रहे लेकिन वह दूसरा भूत प्रथम भूत के कार्य का आरम्भक भी बन जाता हो - यह नहीं हो सकता - यह हमारा अभिप्राय: है।[५] पुन: प्रश्न करते हैं कि - सबका मिलकर किसी कार्य का आरम्भकत्व क्यों नहीं बन सकता? उत्तर देते हैं कि पाँच या चारों का मिलकर आरम्भकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि चाक्षुष

---

१. अयं तु नित्यकारणवाद: ब्रह्मकारणत्वपक्षे प्रकृतिकारणत्व-पक्षे च तुल्य: अत: परमाणुकारणवादे ये दोषास्ते सर्वेषामपि समाना:। प्र०वि०, पृ० ४६

२. तर्कसंग्रह, पृ० १५, प्र०पा०भा०, पृ० १७

३. देहोनाम पार्थिवो द्रव्यविशेष:। प्र०पं०, पृ० ३२०

४. तत्र पृथिव्येव शरीरारम्भिका। तं०र०, पृ० १७

५. भूतान्तर सहितस्य भूतान्तरस्य न कार्यान्तरारम्भकतेति वदाम:। प्र०पं०

और आचक्षुष द्रव्य यदि आरम्भक बनेंगे - तो उनका उस द्रव्य में समवेत होना चाक्षुष नहीं रहेगा - जैसे वायु और वनस्पति का संयोग। जबकि शरीर चाक्षुष है अतः शरीर के आरम्भक पाँच या चार तत्त्व नहीं हो सकते- आकाशादि के अचाक्षुष होने से - यह सिद्ध हो गया।[१]

रामानुजाचार्य के अनुसार इतरभूत शरीरारम्भक नहीं

रामानुजाचार्य ने भी 'तन्त्ररहस्य' में शरीर की उत्पत्ति में पृथ्वी के अतिरिक्त वायु आकाश आदि तत्त्वों का निराकरण किया है - इन तत्त्वों में आरम्भकत्व उपलब्ध न होने से।[२] न केवल अमैथुनी सृष्टि के समय में- अपितु आजकल की मैथुनी सृष्टि में भी नर और नारी के संयोग से शरीर संरचना पार्थिव ही होती है।[३]

शरीर भेद गवेषण

शरीरों के प्रकारों के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर में मतभेद है। न्या०वै० और भाट्ट मीमांसक चार प्रकार के शरीर मानते हैं- १. जरायुज, २. अण्डज, ३. स्वेदज और ४. उद्भिज।[४] परन्तु प्राभाकर तीन प्रकार के शरीरों को मानते हैं, चौथे प्रकार के 'उद्भिज' शरीर को वे स्वीकार नहीं करते।

रामानुजाचार्य ने जरायुज, अण्डज और स्वेदज भेद से तीन प्रकार के शरीर माने हैं[५]- १. जरायुज, उल्व अथवा गर्भवेष्टिनी से शरीर उत्पन्न होना, २. अण्डज - अण्डे से पैदा होने वाले शरीर - ऐसे वे पक्षी या जन्तु

---

१. उच्यते - न तावत्पञ्चानाम्, चतुर्णां वा सम्भूयाऽऽरम्भकत्वं सम्भवति। चाक्षुषाचाक्षुष-द्रव्यारब्ध स्य तत्समवामिनो चाक्षुषत्वापत्तेः। यत् खलु चाक्षुषाचाक्षुषद्रव्यारब्धं यत्समवेतम्, तन्न चाक्षुषम्, वायुवनस्पति संयोगवत्। चाक्षुषश्चदेहः। अतो न पञ्चभिः, चतुर्भिर्वा समारब्धः, आकाशानिलयोरचाक्षुषत्वात्। प्र०पं०, पृ० ३२०

२. नेतराणि भूतानि। तदनुपलम्भात्। तं०र०, पृ० १७

३. इदानीन्तनस्त्रीपुम्परम्परायाश्च तथा दर्शनात्। वही, पृ० १७

४. तत्तु जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिजभेदेन चतुर्विधम्। मा०मे०, पृ० १४५, भा०द०प०, पृ० २३

५. तच्च जरायुजाण्डजस्वेदज-भेदेन त्रिप्रकारकमेव। तं०र०, पृ० १७

होते हैं जिनके कान बाहर की ओर निकले हुए नहीं होते - छिपकली कबूतर आदि। ३. स्वेदज - जो शरीर की गर्मी-पसीना इत्यादि से उत्पन्न होते हैं यथा - जूएँ, लिक्का आदि।

रामानुजाचार्य ने वृक्षादि उद्भिजों को शरीर नहीं माना है - क्योंकि इनमें सुखदुःखादि की अनुभूति नहीं होती।[१] चेष्टा, इन्द्रिय और सांसारिक विषय - इनके आश्रय को शरीर कहते हैं लेकिन वृक्षों में न तो चेष्टा है, न इन्द्रियाँ हैं जब चेष्टा और इन्द्रियाँ - रूप साधन ही नहीं है तो ऐसे शरीर का क्या प्रयोजन है? शरीर तो भोगों का आयतन है - विना साधन के शरीर सांसारिक भोग्य वस्तुओं की अनुभूति कैसे कर सकता है?[२]

शालिकनाथ मिश्र ने भी यही कहा है कि वृक्षों का इन्द्रियों के आश्रित होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने से वृक्षादि को शरीर नहीं माना जा सकता।[३]

निषिद्ध आचरण के फल का स्मरण करने वाला वृक्षादि की योनि को प्राप्त होता है - इस प्रकार की जो बातें हैं वे भी प्रामाणिक न होने से अवास्तविक हैं। शालिकनाथ मिश्र के अनुसार स्मृतिशास्त्र के ये वचन निर्मूल हैं, मुख्यार्थ की निष्पत्ति नहीं होने से।[४]

निषिद्धाचरण का फल शरीरों का वृक्षादि के रूप में उचित नहीं लगता। अन्वय और योग्यता का अभाव होने से। यह तो वैसा ही प्रयोग है यथा - 'अग्नि से सींचना'। वेद में जो तथाभूतार्थ प्रयोग है वह गौण और लाक्षणिक भी हो सकता है यहाँ पर गौणी या लाक्षणिकी वृत्ति से तीन ही प्रकार का शरीर ज्ञात होता है।[५]

---

१. उद्भिजं तु वृक्षादिकं न शरीरम्। भोगानुपलम्भात्। तं०र०, पृ० १७

२. तदायतनं हि तत्प्रयोजकम्। वही, पृ० १७

३. उद्भिजं तु शरीरं न भवत्येव। - वृक्षादिकस्येन्द्रियायतनत्वे प्रमाणाभावात्। प्र०पं०, पृ० ३३०

४. स्मृतेर्निर्मूलतया मुख्यार्थत्वानुपपतेः। न च वेद एव मूलमवकल्पते, अकार्यार्थत्वात्। वही, पृ० ३३१

५. वृक्षादि-रूप-शरीरफलताऽवसातुं न शक्यते, फलतयाऽन्वयायोग्यत्वात्। - यस्तु वेदे तथा भूतार्थ प्रयोगः स गौणः लाक्षणिको वा वर्णनीय इति, अत्राऽपि गोण्या, लक्षणया वा वृत्या वर्णनीयम्। अतस्त्रिविधमेव शरीरम्। प्र०प०, पृ० ३३१

वृक्षादि को शरीर मानने वालों का रामानुजाचार्य द्वारा खण्डन

उक्त स्मृति वचनों के सम्बन्ध में प्रकरण पञ्चिकाकार की धारणा को पुष्ट करते हुए कहते हैं 'श्मशाने जायते वृक्षः' इत्यादि वचन विधि परतन्त्र हैं और विधि परतन्त्र वचन कभी भी स्वतन्त्र रूप से किसी अर्थ का द्योतन नहीं कर सकते यथा - 'यजमानः, पशुः प्रस्तरः आदित्यो यूपः' इत्यादि। अतः प्रमाण विरुद्ध होने से इन वचनों से उद्भिजों के शरीरत्व की सिद्धि नहीं।[१] शरीर तीन ही प्रकार के हैं।

१.०२ जल

वै०सू० के अनुसार रूप, रस, स्पर्श और स्निग्धता से युक्त द्रव्य आपः (जल) है।[२] प्रशस्तपाद ने 'अप्त्वाभिसम्बन्धादापः' कहा है।[३] परमाणु रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है। कार्य रूप शरीर को प्रशस्तपाद एवं अन्नंभट्ट ने तीन प्रकार का माना है। ...शरीर, इन्द्रिय और विषय।[४] भाट्टमतानुयायी भाट्टार्ककार ने कार्य रूप जल को रूपरसादि 8 गुणों से युक्त माना है। प्रशस्तपादाचार्य को १४ गुण अभीष्ट हैं।[५] 'गुरुसम्मत-पदार्थनिरूपण' में संख्या को नहीं माना। प्रभाकर मतानुयायी गुरुसम्मत पदार्थ निरूपणकार ने जल में १३ गुण ही स्वीकार किये हैं।[६] इसका शुक्ल रूप, माधुर्य रस, स्वाभाविक शीतल स्पर्श तथा स्वाभाविक द्रवत्व - सभी दार्शनिकों को समान रूप से स्वीकार है।[७]

---

१. श्मशाने जायते -। इति वचनं तद्विधि-परतन्त्रतया न स्वतन्त्रम्। यजमानः पशुः (प्रस्तरः) आदित्यो यूपः इतिवत्। प्रमाणविरोधात्। तं०र०, पृ० १७

२. रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। वै०सू० २.१.२

३. प्र०पा०भा०, पृ० २०

४. त०सं०, पृ० १७, प्र०पा०भा०, पृ० २०-२१

५. रूपरसस्पर्शद्रवत्व-स्नेहसंख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोगविभाग- परत्वापरत्व गुरुत्वसंस्कारवत्यः। प्र०पा०भा०, पृ० २०

६. गु०सं०पा०नि०, पृ० २९५-९६

७. शीतस्पर्शवत्य आपो - तं०सं०, पृ० १६, स्पर्शशीत एव भाट्टार्कः। पृ० ७ शैत्यमेवऽस्पर्शः। गु०सं०प०नि०, पृ० २९६

जल का स्वाभाविक स्पर्श शीतल है। उष्णता और करकादि काठिन्य तो औपाधिक है। भाट्टार्ककार ने एकत्र जल को भी वायु की तरह अनुष्णशीतस्पर्श वाला कहकर उष्णतादि को औपाधिक बताया है।[१]

१.०३ तेज

प्र०पा०भा० के अनुसार तेजस्त्व जाति से सम्बन्धित द्रव्य 'तेज' है।[२] उदयनाचार्य कृत लक्षणमाला में 'औष्ण्यमेव तेजः' कहा है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से 'उष्णस्पर्शत्व' ही तेज का लक्षण है।[३] कणाद ने रूप और स्पर्श- दोनों से युक्त को 'तेज' का लक्षण माना है।[४] तेज का रूप शुक्ल और भास्वर होता है।[५] यह दूसरों को प्रकाशित करता है इसलिए इसे 'भास्वर' कहते हैं।[६] इसका स्वाभाविक रंग चाँदनी के समान शुभ्र होता है। इसमें दिखने वाले अन्य रंग औपाधिक हैं, पृथिवी कण संयोग से हैं।

यह तेज परमाणु रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है। अनित्यतेज शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से यह तीन प्रकार का माना गया है[७]-

१. शरीर - आदित्यलोक २. इन्द्रिय - नेत्र

३. विषय - भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज -

इन्धनादि	सूर्यादि	जठराग्नि	सोना

भेद से चार प्रकार के हैं।[८]

---

१. .....अनुष्णाशीतस्पर्शवत्वस्योपाधित्वात्। भाट्टार्कः, पृ० ७
२. तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः। प्र०वा०भा०, पृ० २२
३. औष्ण्यमेव तेजः, समवाय-सम्बन्धेनोष्णस्पर्शवत्वं तेजसो लक्षणमित्यर्थः। ल०मा०, पृ० २८
४. तेजो रूपस्पर्शवत्। वै०सू० २.१.३
५. तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। प्र०पा०भा०, पृ० २२
६. पररूपप्रकाशकं भास्वरमुच्यते। गु०स०प०नि०, पृ० २९६
७. कार्यञ्च शरीरादि-त्रयम्।
८. विषयसञ्ज्ञकं चतुर्विधम् - भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च। प्र०पा०भा०, पृ० २२, गु०स०प०नि०, पृ० २९६

कुमारिल भट्टानुयायी मा०मे०कार० ने तेज के रूप और स्पर्श - दोनों गुणों को तीन प्रकार से माना है[१] जो निम्न हैं-

उद्भूत (रूपस्पर्श)	अनुद्भूत (रूपस्पर्श)	और	अभिभूत (रूपस्पर्श)
सन्तप्त लोहपिण्डादि	नेत्रेन्द्रिय		सुवर्ण

न्या०वै० के अनुसार सुवर्ण भी तेजः स्वरूप है। इसकी पहचान यह है कि वह अग्नि में जलाने पर अन्य पदार्थों की तरह विकृत नहीं होता। उसके कण द्रवीभूत होने पर भी वैसे ही रहते हैं। उसमें द्रवत्व औपाधिक है। पार्थिव कणों से अत्यधिक अभिभूत होने से उष्णता और प्रकाश का बाहुल्य नहीं है। इसीलिए वह पार्थिव जैसा ज्ञात होता है।[२] प्र०पा० के अनुसार रूपादि तेज के ११ गुण हैं।[३] गु०स०प०नि०कार के संख्या को न मानकर दस भेद माने हैं।[४]

१.०४ वायु

वायुत्व जाति से साक्षात् सम्बद्ध स्पर्शवान् द्रव्य को 'वायु' कहते हैं। स्पर्श के आधार पर ही वायु का ज्ञान होता है।[५]

(i) न्या०वै० के अनुसार वायु का अनुमान

नैयायिक वायु का अनुमान करते हैं। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष यहाँ वायु के - लिङ्गभूत स्पर्श का ही होता है।

---

१. तस्य पुनरुद्भूतानुद्भूताभिभूतभेदेन त्रिविधौ रूपस्पर्शौ। मा०मे०, पृ० १४८

२. सुवर्णम् तेजसम्। असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान- जन्य-द्रवत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा जलादीत्यनुमानेन तेजस्तया सिद्धस्य सुवर्णस्य पृथिव्यादि-स्पर्शेणाभिभवादौष्णायानुपलब्धिः। ल०मा०, पृ० २९

३. प्र०पा०भा०, पृ० २२

४. दशगुणाः। गु०स०प०नि०, पृ० २९६

५. वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः। प्र०पा०भा०, पृ० २४
'स्पर्शवान् वायुः'। वै०सू० २.१.४

स्पर्श के ज्ञान से वायु का अनुमान लगा लिया जाता है। वै०सू०[१] कार के अनुसार भी वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। वायु का स्पर्श भी अन्ये पदार्थों के स्पर्श से विलक्षण होता है। वै०सू० के अनुसार यह अनूष्णशीत स्पर्श पृथिवी जलादि में नहीं हो सकता अत: परिशेषानुमान से वायु का होने से वायु की सिद्धी मानी है।[२]

(ii) कुमारिलभट्ट के अनुसार वायु का त्वचा से प्रत्यक्ष

भट्टमतानुयायी नारायण भट्ट ने न्या०वै० मत को अप्रसिद्ध द्रव्य की कल्पना मानी है।[३] इनके अनुसार त्वक् इन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष माना गया है।

तं०र०कार रामानुजाचार्य के अनुसार प्रत्यभिज्ञा द्वारा वायु का प्रत्यक्ष

रामानुजाचार्य न्यायवैशेषिक और कुमारिलभट्ट सम्मत अनुमान और त्वचा से प्रत्यक्ष का निराकरण करके 'प्रत्यभिज्ञा' के आधार पर प्रत्यक्ष मानते हैं - इनके अनुसार वायुगत स्पर्श का ही प्रत्यक्ष नहीं - अपित वायु का ही प्रत्यक्ष होता है।[४] प्रसंगत 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द भी यहाँ विचारणीय है- जहाँ संस्कारों के आधार पर किसी वस्तु का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है उसे 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं - श्लोकवार्तिककार ने भी ऐसा ही माना है।[५]

'शीतो वायु:', 'उष्णोवायु:', इस प्रकार का अनुभव हम प्राय: करते

---

१. वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते। वै०सू० २.१.१५

२. न च दृष्टानां स्पर्श इति अदृष्ट-लिङ्गो वायु:। वै०सू० २.१.१०
वायुरनुष्णाशीतस्पर्शानुमेय: इति तार्किका:। मा०मे०, पृ० १४९

३. नापि पारिशेष्याद्वायु-सिद्धि:, असिद्ध-द्रव्यकल्पनात:....।
भट्टमतानुसार - अप्रसिद्ध द्रव्यं की कल्पना से प्रसिद्ध की कल्पना लघुतर मानी जाती है-
यथोक्त कल्पना-लाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे।
कल्पना गौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे।।
अतस्त्वगिन्द्रियग्राह्योवायु:। मा०मे०, पृ० १५२

४. तत्र वायु: प्रत्यक्ष एव। न तु तद्गत: स्पर्श एव प्रत्यक्ष:।

५. तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमातु: स्मरतोऽपि या।
बुद्धि: पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते।। श्लो०वा० (मा०मे०, पृ० २७ पर)

रहते हैं। ये वायु: की अनुभूति के भेद हैं - तं०र०कार रामानुजाचार्य कहते हैं कि शीत और उष्णस्पर्श के भेद रहने पर भी 'यह वही वायु है' यह प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ज्ञान होता है।[१] इससे वायु के अनुष्णशीतस्पर्श वाला होने का भी निश्चय हो जाता है।[२]

ग्रन्थकार पूर्वपक्ष की तरफ से शंका करते हैं[३] कि शीतोष्ण से भिन्न वायु की प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर देते हैं - स्फटिकमणि के समान। प्रसिद्ध दार्शनिक रामानुजाचार्य प्रभाकर मत को पुष्ट करते हुए इस बात को और अच्छी तरह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे स्फटिक स्वभावत: सफेद होता है - परन्तु औपाधिक गुणों से सम्बन्ध हो जाने पर भी 'जो शुक्ल था वही अब लाल है'[४] ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। क्योंकि शुक्ल स्फटिक के आगे रक्त पुरुष के रखे जाने से उसमें औपाधिक रक्तता आ गई - जो स्फटिक स्वाभाविक शुक्लता का आश्रय था वही अब रक्तता का आश्रय बन गया - लेकिन 'स्फटिक' वही है - इसी प्रकार इदंता और तत्ता युक्त प्रत्यभिज्ञा के द्वारा इस वायु नामक द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होता है।[५]

१.०४ आकाश

आकाश एक होने के कारण जाति सूचक 'त्व' लगाकर इसका लक्षण नहीं किया जा सकता।[६] यदि कहीं 'त्व' का प्रयोग होगा तो वह उपाधि का द्योतक माना जायेगा।[७] यथा - घटाकाशादि।

---

१. नन्वनुष्णाशीत स्पर्शोवायु:। तं०र०, पृ० १७
२. वही, पृ० १७
३. स्फटिकवदुपपत्ति। तं०र०, पृ० १७
४. यथा हि शुक्लोऽपि स्फटिक: तत्तदौपाधिकगुणसम्बन्धेऽपि 'योऽयं शुक्ल: स एवायं रक्त:' इत्याश्रयांशे प्रत्यभिज्ञायते। वही, पृ० १७
५. शीतोष्ण-स्पर्श भेदेऽपि 'स एव वायु:' इति प्रत्यभिज्ञानात्। वही, पृ० १७
६. आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्र: संज्ञा भवन्ति आकाश: कालो दिगिति। प्र०पा०भा०, पृ० ३६
७. आकाशस्तु घटाकाशादिभेदभिन्नोऽनन्त एव।
आकाशादि-त्रयं तु वस्तुत: एकमेव उपाधि भेदान्नानाभूतम्। स०प०

आकाश का लक्षण

जिसका गुण शब्द हो वह 'आकाश' कहलाता है।[१] वै०सू०कार के अनुसार रूप, रस, गन्ध और शब्द - ये आकाश में नहीं होते।[२] शब्द को आकाश का विशेष गुण माना गया है।[३]

वैशेषिकों द्वारा परिशेषानुमान से आकाश की सिद्धि

वै०द० के अनुसार कारण का गुण ही कार्य में आता है। मिट्टी का गुण ही घड़े में आयेगा अन्य नहीं। निराकार मिट्टी से साकार घट नहीं बन सकता। इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु - इन स्पर्शवान् द्रव्यों से अस्पृश्य शब्द नहीं बन सकता। इसी प्रकार सुखदु:खादि के समान समवेत न होने से तथा श्रौत्र के समान प्रत्यक्ष न होने से इसे आत्मा या मन का गुण भी नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार दिक् और काल भी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य नहीं - अन्ततोगत्वा एक ही द्रव्य बचता है - वह है - आकाश। आकाश द्रव्य है और शब्द उसका गुण है यह परिशेषानुमान से सिद्ध हो जाता है।

कुमारिल भट्ट के मत में आकाश की प्रत्यक्षता

आकाश की सिद्धि में कुमारिल भट्ट और प्रभाकरों में मतभेद है।[४] नारायणभट्ट ने आकाश को प्रत्यक्ष से सिद्ध माना है। वे कहते हैं कि यदि आकाश, काल, दिक् - इनका प्रत्यक्ष नहीं माना जायेगा तो इनका स्वरूप ही सिद्ध न हो सकेगा।[५] क्योंकि प्रत्यक्ष को छोड़कर इनमें कोई अन्य प्रमाण नहीं है।

---

१. शब्दगुणकमाकाशम्। त०सं०, पृ० ३२, व्याख्याता आनन्द झा
२. ते आकाशे न विद्यन्ते। वै०सू० २.१.५
३. 'आकाशस्य तु विज्ञेय: शब्दो वैशेषिको गुण:।' भा०प०
४. प्र०पं० भाट्ट-प्रभाकर-प्रस्थानयोर्मतभेदप्रदर्शनीपट्टिका (ख)
५. व्योमकाल-दिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते। मा०मे०, पृ० १७९
अपि च दिक्कालाकाशा यदि न प्रत्यक्षा:, तर्हि तेषां स्वरूपमेव हीयेत प्रत्यक्ष व्यतिरेकेण तेषु प्रमाणाभावात्। मा०मे०, पृ० १७९

प्रभाकर मत में आकाश की अनुमेयता

प्रभाकर मतानुयायी आकाश का प्रत्यक्ष नहीं मानते क्योंकि वह रूप हीन द्रव्य है।[१] शालिकनाथ मिश्र शब्द के गुण होने की सिद्धि करते हुए कहते हैं शब्द एक गुण है और वह गुणी (आकाश) का अनुमान कराता है[२] और वह आकाश पृथिवी आदि से भिन्न द्रव्य है। इससे शब्द साक्षाद्-इन्द्रिय से ग्रहण होने के कारण द्रव्य मानने का भाट्टों का सिद्धान्त भी ध्वस्त हो जाता है। प्र०पा० के अनुसार आकाश में - शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग - ये छः गुण हैं।[३] गु०सं०प०नि०कार ने संख्या को नहीं माना - उसके अनुसार इसमें पाँच गुण हैं।[४]

१.०६ काल

वै०सू०कार के अनुसार पहले, पीछे, एक साथ, देर से, शीघ्रता से- ये काल के प्रतीक हैं।[५] न्या०सि०मु० कार तथा प्रशस्तपादाचार्य ने काल को उत्पन्न हुए पदार्थों का निमित्त कारण माना है।[६] न्या०सि०मु० कार ने तो इसे जगत् के सारे पदार्थों का आधार माना है क्योंकि संसार के सभी पदार्थ किसी न किसी समय में ही उत्पन्न होते हैं। तर्कसंग्रहदीपिकाकार का भी यही अभिमत है।[७]

कुमारिल भट्ट के मत में काल की प्रत्यक्षता

नारायण भट्ट ने काल को प्रत्यक्ष सिद्ध माना है। युगपद् आदि व्यवहार में अनुमान नहीं प्रत्यक्ष प्रमाण ही बनता है।[८] अनुमान इसलिए नहीं बनेगा - इसमें योगपद्य की प्रतीति ही लिंग बन सकेगी - इससे भिन्न कोई

१. आकाशो न प्रत्यक्षः, नीरुपत्वात् मनोवत्। गु०सं०प०नि०, पृ० २९७
२. एकेन्द्रिय-प्रत्यक्षतया रूपादिवद्गुणत्व-सिद्धेः। .....एवं सिद्धगुणभावः शब्दो गुणिनमनुमास्यति। (अुनमापयतीति) पाठ-भेद (प्र०पं०)
३. प्र०पा०भा०, पृ० ३६
४. गु०स०प०नि०, पृ० २९७
५. अपरिस्मन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि। वै०सू० २.२.९
६. प्र०पा०भा०, पृ० ४१, न्या०सि०मु०, पृ० २२४
जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः। कारिका ४५ न्या०सि०मु०, पृ० २२४
७. सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्त कारणं च। त०सं०दीपिका, पृ० ६७
८. नापि कालो युगपदादिप्रत्ययानुमेयः। मा०मे०, पृ० १८०

लिंग नहीं है।[१] इसकी प्रतीति इसी से मानने पर आत्माश्रय दोष होगा, अतः योगपद्य आदि प्रतीतियों का कालविषयक प्रत्यक्ष ही भाट्ट सम्मत मत है।[२] इसी प्रकार 'प्रातःकालोऽयम्' 'सायं कालोऽयम्' इत्यादि प्रतीतियाँ भी काल की प्रत्यक्षता को बताती हैं।

नैयायिक जयन्त भट्ट के मत में काल की अनुमेयता

जयन्त भट्ट ने काल के प्रत्यक्षत्व का निराकरण करते हुए कहा है[३] कि - 'तत्कारणकस्योपपत्तेरनुमेय एव कालः' अर्थात् कारणक के ज्ञान से परोक्ष काल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जैसे पृथ्वी के ऊपर से चाँद जैसा दिखता है वैसे नीचे वाले भाग पर भी दिखने का अनुमान लगाया जाता है।

प्राभाकर मतानुसार काल प्रत्यक्षसिद्ध नहीं, अनुमेय है

काल, नित्य, विभु और एक है। क्षण से लेकर महाप्रलय तक के व्यवहारों का यह हेतु है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग- ये काल के गुण हैं।[४] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि - एक तरफ तो काल नित्य है - दूसरी तरफ उसमें संख्या परिमाण संयोगविभागादि है - यह विरोध क्यों? इस सम्बन्ध में प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं कि - जैसे एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यवहारों से तत्तत् संज्ञा को धारण करता है - पढ़ाने से पाठक और पकाने पर पाचक कहलाता है। इसी तरह स्फटिकमणि यथा संयोग से लाल या श्वेत दीखती है - इसी प्रकार काल सम्बन्धी - प्रारम्भ, समाप्त, जारी - इत्यादि समस्त व्यवहार औपचारिक हैं।[५] काल के विषय

१. युगपदादि-प्रत्ययानामेवलिङ्गत्वे चात्माश्रयप्रसंगात्। वही, पृ० १८१

२. तर्हि प्रत्यक्षत्वमेव कालस्यापन्नम्। भा०मे, पृ० १८१

३. अप्रत्यक्षत्वमात्रेण न च कालस्य नास्तिता।
युक्ता पृथिव्यधोभागचन्द्रमः परभागवत्। न्या०मं० प्र०प्र०, पृ० १२५

४. प्र०पा०भा०, पृ० ४३, प्र०पं० भाट्ट प्रभाकर प्रस्थानयोर्मतभेदप्रदर्शनी पट्टिका (ख)

५. तस्याकाशवद्द्रव्यत्वनित्यत्वे सिद्धे काललिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिर्निवृत्ति-स्थितिनिरोधोपाधि भेदान्मणि- वत्पाचकवद्वा नानात्वोपचार इति। प्र०पा०भा०, पृ० ५६ / पृ० ४२-४३ आचर्य ढुण्ढिराज शास्त्री, संस्करण २०३७

में तर्क-संग्रहकार ने जो भूत आदि का हेतु बताया तथा सप्तपदार्थीकार ने जो पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश भेद से काल का त्रैविध्य माना है[१] ये सब एक ही काल के लिए औपाधिक प्रयोग हैं। इसी प्रकार - 'काफी समय नष्ट हो गया', समय 'बढ़ा दिया गया' समय भाग रहा है- इत्यादि व्यवहार काल के सम्बन्ध में लाक्षणिक प्रयोग हैं।

काल मूलतः तो एक ही है - पदार्थों की उत्पत्ति के आधार पर यह त्रैविध्य (उत्पत्ति स्थिति विनाश) माना जाता है। वस्तुतः भूत भविष्यत् आदि कार्य के विशेषण हैं, काल के नहीं हैं। इस प्रकार काल में परत्वापरत्वसंयोग विभाग तथा क्षण पल आदि औपाधिक व्यवहार सम्भव है।[२]

१.०७ दिक्

किसी दिखाई देने वाली वस्तु के बारे में दूर या निकट होने की बुद्धि जिस द्रव्य से बनती है उसे 'दिक्' कहते हैं।[३] अब यहाँ प्रश्न उठता है कि दूरी और समीपता अर्थात् परत्व और अपरत्व तो काल में भी होता है - इससे तो लक्षण अतिव्याप्त होने लगेगा? इसके उत्तर में न्या०सि०मु० कार कहते हैं कि - देशिक परत्वापरत्व से ही दिक् की सिद्धि होती है।[४]

दिक् सिद्धि निरूपण

कुमारिल भट्ट के मत में दिक् की सिद्धि

कुमारिल मतानुयायी दिक् को प्रत्यक्ष सिद्ध मानते हैं। मैं अब पश्चिम में खड़ा हूँ - पूर्व की ओर चल रहा हूँ - भाट्ट मतानुसार ये प्रतीतियाँ नेत्र जन्य होने से दिशाओं की प्रत्यक्षता सिद्ध होती है।[५] क्या इस

१. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। त०सं०, पृ० २२
'कालस्तु उत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणस्त्रिविधः।' स०प०
२. परापरत्व-धी हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः। न्या०सि०मु०, का० ४६, पृ० २२६ / पृ० १५१, कृष्ण वल्लभाचार्य संस्करण तृतीय २०३९
३. दूरान्तिकाधीहेतुरेका नित्यादिगुच्यते। वही, का० ४६
४. दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्। न्या०सि०, पृ० २३०
५. दिशोऽपि ..... प्रत्यक्षत्वं समर्थनीयम्। मा०मे०, पृ० १८२

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए भी अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा। मा०मे० कार नारायणभट्ट कहते हैं कि पूर्वापर आदि ज्ञानों के लिए अगर उन्हीं को लिंग मानकर दिशाओं का अनुमान किया जायेगा तब तो सामने रखे हुए घट-विषयक ज्ञान में भी अनुमान प्रसक्त होने लगेगा।[१]

नीलकण्ठ ने छहों इन्द्रियों से दिक् का प्रत्यक्ष माना है।[२] पुनः प्रश्न उठता है कि कान से दिशा का प्रत्यक्ष कैसे होगा? इस सम्बन्ध में 'दिगेव श्रौत्र' मिति - इस वाजसनेय वाक्य के द्वारा श्रौत्र को भी दिशा ही माना है - इससे 'कर्णविच्छिन्नं नभः' श्रोत्रम् यह वचन निरस्त हो जाता है।[३]

प्रभाकर मत निरूपण

प्रभाकर मतानुसार दिशा निरवयव होने से प्रत्यक्षतः नहीं देखी जा सकती - प्रत्यक्ष हमेशा सावयव द्रव्य का होता है अतः दिशा का अनुमान लगाया जाता है।[४] यह दिक् वस्तुतः तो एक - नित्य और विभु है - पूर्वपश्चिमादि प्रभेद तो लोकव्यवहार में सुविधा की दृष्टि से कल्पित एवं औपाधिक हैं।[५]

प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार पूर्व-पश्चिमादि जो दस दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं - इन द्रव्यों की प्रतीति का निमित्त कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता[६]- यह एक अलग द्रव्य है प्राभाकरों ने इसे पृथक् द्रव्य माना है।[७]

दिक् और काल में अन्तर

दिक् और काल के गुण लगभग एक जैसे मालूम पड़ते हैं - वस्तुतः ये अलग-अलग द्रव्य हैं - इनमें प्रथम अन्तर तो यह है कि दिशा स्थान के और काल समय के पौर्वापर्य को बताता है। दूसरा अन्तर यह है

---

१. मा०मे०, पृ० १८२
२. वस्तुतस्तु कालवद् दिशोऽपि षडिन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वमेवास्ति। भाट्टार्कः, पृ० १३
३. भाट्टार्कः। पृ० १३-१४
४. मा०मे०, पृ० १३१-१८२ (पूर्वपक्ष के रूप में)
५. तर्कसंग्रह, पृ० २२, न्या०सि०मु०, पृ० २३१
६. दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा ..... द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन ... इति दशप्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासम्भवात्। प्र०पा०भा०, पृ० ४५
७. ..... दिगात्ममनांसि नव। तं०र०, पृ० १७

कि दिशा वस्तु की स्थिति पर निर्भर है और काल वस्तु की गति पर - जैसे सूर्य की स्थिति को देखने मात्र से दिशा का ज्ञान हो जाता है और पृथ्वी की गति से समय का ज्ञान होता है। तीसरा अन्तर यह है कि - दैशिक सम्बन्ध परिवर्तित हो सकता है पर कालिक नहीं - जैसे हम पूर्व से पश्चिम में और पश्चिम से हटकर पूर्व में आ सकते हैं लेकिन भूत से वर्तमान में आकर फिर वर्तमान से भूत में नहीं जा सकते।

१.०८ आत्मा

आत्मा के विषय में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। चार्वाक शरीर को आत्मा कहते हैं। पौराणिक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। किन्हीं के मत में मन ही आत्मा है। कुछ लोग प्राणों को आत्मा की संज्ञा देते हैं। बहुत से लोग बुद्धि को आत्मा स्वीकार करते हैं।

प्राभाकर मत में आत्मा के सम्बन्ध में प्रकरणपञ्चिकाकार ने निम्न श्लोक के रूप में सिद्धान्त की स्थापना की है[१]-

बुद्धीन्द्रिय शरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते।।

अर्थात् आत्मा शरीर, इन्द्रिय, और बुद्धि से भिन्न है, विभु और नित्य है। प्रत्येक शरीर में अलग है तथा वस्तुओं के ज्ञान के साथ प्रकाशित होता है।

शरीर आत्मा नहीं

मैं मोटा हूँ - मैं दुर्बल हूँ - इत्यादि अहङ्कार के अनुसार शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता[२] - क्योंकि ये अहं प्रतीतियाँ लाक्षणिक हैं।[३] 'अहम्' शब्द शरीर से आत्मा की भिन्नता को अभिहित करता है। मेरा

१. प्र०पं०, पृ० ३१६, प्र०वि०, पृ० ९७

२. यत्तु शरीर एवाहं प्रत्ययो दृश्यते - स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति .... प्रतीतिस्तत्राहं शब्दः शरीरे लक्षणया वर्तत इत्यङ्गीकर्तव्यम्, मुख्यस्याहमर्थस्य शरीर-व्यतिरेकेण प्रतिपन्नत्वात्। प्र०वि०, पृ० ९६-९७ / प्र०पं०, पृ० ३२७

३. प्र०वि०, पृ० ९६-६७

शरीर - इत्यादि प्रतीति से शरीर से भिन्न आत्मा की ही प्रतीति होती है। यदि ऐसा न होता तो मेरा की जगह 'मैं' का प्रयोग होता। इसके अतिरिक्त ज्ञातृता आत्मा में ही सम्भव हो सकती है शरीर में नहीं।[१] शरीर को आत्मा मानने पर जन्मान्तर तो होगा ही नहीं क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर के रूप में आत्मा ही जल गया फिर पुनर्जन्म भी नहीं बनेगा - अतः आत्मा शरीर से अलग तत्त्व है।

इन्द्रियाँ आत्मा नहीं

यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा होने लगेंगे तब तो मृत्यु के बाद भी उनमें क्रियाशीलता रहनी चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों को आत्मा मानने पर द्रष्टा और स्मर्ता एक ही नहीं हो सकेगा। 'जिसको मैंने देखा उसे छू रहा हूँ' यह ज्ञान इन्द्रियात्मज्ञान में नहीं बन सकता।[२]

मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता

करण होने से मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता। साधन चेतन नहीं होता यथा चक्षु आदि। मन भी बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान का साधन है। ज्ञान के साधन को उसका कर्ता कैसे माना जा सकता है।[३]

प्राण भी आत्मा नहीं

प्राण भी वायु रूप होने से आत्मा नहीं - इनमें सुखादि की उत्पत्ति और अनुभूति भी नहीं हो सकती। अनुभव में भी हम देखते हैं कि आत्मा तो सोने पर वृत्ति हीन हो जाता है जबकि प्राण श्वास-प्रश्वास के रूप में तब भी गतिशील रहते हैं।[४] फिर दोनों एक कैसे हो सकते हैं? प्रभाकर विजयकार कहते हैं कि जैसे स्पर्श से घट की साक्षात् अनुभूति होती है -

---

१. अस्तु तर्हि देह एषा आत्मा। मैवम्। ज्ञाता ह्यात्मा, न च देहस्य ज्ञातृता संभवति। प्र०पं०, पृ० ३२०

२. इन्द्रियान्तरदृष्टस्येन्द्रियान्तरेण प्रतिसन्धानं दृश्यते - यदहमद्राक्षं तमहं स्पृशामीति, तदिन्द्रयात्मवादे नोपपद्यते। न हि देवदत्तानुभूते यज्ञदत्तस्य प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति। प्र०वि०, पृ० ८९ प्र०पं०, पृ० ३१९ ('इन्द्रियात्मवादोपन्यास' - 'तन्निरासौ' इति प्रकरणे)

३. एतदपि - न मनसः करणत्वात्। .... करणरूपस्यैव ज्ञान कर्तृत्वं कथमिव संभवति। प्र०वि०, पृ० ८९

४. वही, पृ० ९१

इसी प्रकार प्राणों का अनात्मत्व तो स्फुट ही है।[१]

बुद्धि आत्मा नहीं

यदि बुद्धि ही आत्मा होता तो 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा व्यवहार होता - जबकि 'मैं जानता हूँ' ऐसा सर्वत्र व्यवहार होता है। 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति में ज्ञान से अलग ज्ञाता आत्मा प्रत्यक्षतः प्रकाशित है। विज्ञानवादी आत्मा को क्षणिक मानते हैं यहाँ समस्या यह आयेगी कि यदि आत्मा को क्षणिक विज्ञान में लपेट लिया गया तो इस क्षण के ज्ञान का अगले क्षण में प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा? अथवा एक दिन के ज्ञान का दूसरे दिन प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकेगा।[२] जबकि ऐसा देखा जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञान में समर्थ संवित् का आश्रय-भूत स्थायी है और वह चेतन आत्मा है।[३]

कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा

नैयायिकों के समान मीमांसकों का आत्मा कर्ता, ज्ञाता और भोक्ता है। आत्मा शरीरादि से भिन्न है तथा वह ज्ञानस्वरूप एवं स्वप्रकाश नहीं है- इस बात से कुमारिल और प्रभाकर दोनों सहमत हैं। परन्तु कुछ तथ्यों में कुमारिल की अपनी भिन्न मान्यताएँ हैं। कुमारिल आत्मा में क्रियाशीलता को मानता है[४] जबकि प्रभाकर ऐसा नहीं मानते। कुमारिल के अनुसार आत्मा के चेतन और अचेतन दो रूप हैं। सुखदुःखादि इसके अचेतन अंश के परिणाम हैं।

कुमारिल के अनुसार आत्मा मानस-प्रत्यक्ष-गम्य है

भट्ट मत के अनुसार आत्मा का ज्ञान मानसिक ज्ञान से होता है। 'अहं प्रत्यय' के द्वारा मानस प्रत्यक्ष में आत्मा की सत्ता की प्रतीति होती

---

१. स्पर्शेन्द्रियग्राह्य-घटादिवत्स्फुटमनात्मत्वं प्राणस्य। वही, पृ० ९१

२. क्षणभिङ्गिन्याः सविद आत्मत्वे प्रतिविषयमन्यथाभावेन परेद्युर्ज्ञातस्यापरेद्युः प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः। भवति ह्यन्येद्युर्द्रष्टेऽपरेद्युरिदमहमदर्शमिति प्रत्ययः। न चास्य निरालम्बनत्वमुचितम्। प्रमाणविरोधात्। प्र०वि०, पृ० ९१

३. अतः प्रत्यभिज्ञानसमर्थः संविदाश्रयः स्थायी चेतनोऽभ्युपगन्तव्यः। वही, पृ० ९१

४. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते। न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्। श्लो० वा० आत्मवाद श्लो ७४, पृ० ८५८

है। जैसे - मैं अपने को जानता हूँ यहाँ 'अहं' प्रत्यक्ष गम्यत्व आत्म संविति के रूप में स्पष्ट है।[१] लेकिन कुमारिल आत्मा की प्रतीति को प्रत्येक ज्ञान में नहीं मानते - मानस प्रत्यक्ष गम्य होने से उसमें कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों विद्यमान हैं - जैसे 'मैं' अपने को जानता हूँ। कुमारिल इसे अभिधार्थ में ग्रहण करता है तदनुसार 'मैं' में कर्तृत्व है और 'अपने को' में कर्मत्व है। अतः आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय, विषय और विषयी, प्रमाता और प्रमेय दोनों ही बन सकता है।[२]

कुमारिल भट्ट के मत को पुष्ट करते हुए तदनुयायी नारायण भट्ट मा०मे० में कहते हैं कि जब वेदान्ती एक ही आत्मा में कर्तृत्व, कर्मत्व और करणत्व - ये तीन धर्म मानते हैं तो हमारे मत में आत्मा में कर्तृत्व और कर्मत्व का समावेश एक ही जगह क्यों न हो सकेगा?[३] फिर 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य... आत्मानं जानीहि' आदि निगम-प्रयोग की प्रमाण हैं। मानमेयोदयकार नारायण भट्ट एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहते हैं - जैसे - 'देवदत्त गाँव जाता है' इस वाक्य में देवदत्त की गमन क्रिया का फल गाँव की प्राप्ति का आश्रय रूप कर्मता गाँव ही है - इसी प्रकार अपने ही ज्ञान से जनित प्राक्ट्य रूप फल की आधारता भी आत्मा में ही माननी होगी अन्यथा आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकेगा - इसलिए आत्मा में कर्तृकर्म भाव बन जाता है।[४]

रामानुजाचार्य द्वारा कुमारिल का खण्डन

रामानुजाचार्य ने आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष नहीं माना है क्योंकि एक ही वस्तु में कर्तृत्व और कर्मत्व - इन दो परस्पर विरुद्ध धर्मों की स्थिति नहीं बन सकती।[५] ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि - 'माम् जानामि

---

१. अहम्प्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपपाद्यते। श्लो०वा० आत्मवाद। श्लो० १०७
अहं वेद्मीत्यहं बुद्धि-र्ज्ञातारमधिगच्छति। वही, श्लोक ११०, शा०दी०, पृ० २५७

२. अतो मानस-प्रत्यक्षगम्य एवायमिति स्थितम्। शा०दी०, पृ० २५९

३. मा०मे०, पृ० १८७

४. मा०मे०, पृ० १८७

५. तथा आत्मा च न मानस प्रत्यक्षः। कर्मकर्तृभाव-विरोधात्। तं०र०, पृ० १७

इति व्यपदेशस्तु भाक्तः' अर्थात् यहाँ पर पूर्वपक्षियों को जो कर्तृ कर्म का एकत्र आभास हो रहा है - यह तो लाक्षणिक प्रयोग है।[१] जैसे मञ्चाः क्रोशन्ति में मञ्चस्थ का ग्रहण है उसी प्रकार यहाँ पर भी कर्तृत्व-मात्र ही लक्षित हो रहा है - प्रभाकर विजयकार आचार्य नन्दीश्वर ने भी अपने ग्रन्थ में इस द्वैधी भाव को परास्त करके तन्त्ररहस्यकार की मान्यता को पुष्ट किया है।[२]

नन्दीश्वर के मत में ग्राहकत्व के रूप में तो आत्मा की सिद्धि बन सकती है लेकिन ग्राह्यत्व के रूप में नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु का कर्मकर्तृ भाव कहीं भी नहीं देखा गया है।[३] अतः आत्मा ही विषय बन जाये - और आत्मा ही कर्ता बन बैठे - ऐसी मान्यता तो खरगोश के सींग मानने के समान है।[४]

रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा की प्रतीति

प्रभाकर के मत में प्रत्येक विषय-ज्ञान में आत्मा प्रकाशित होता है।[५] पदार्थों के ज्ञान में ज्ञाता का ज्ञान मानना पड़ेगा - अन्यथा यह ज्ञान मेरा है या दूसरे का - यह अन्तर ज्ञात कैसे हो सकेगा?[६] किसी विषय को जानने के बाद 'मैंने इसे जाना' यह सबको सर्वत्र प्रतिभास होता है अतः प्रत्येक विषय-ज्ञान में आत्मप्रकाश को प्रभाकर विजयकार ने भी पुष्ट किया है।[७]

तन्त्ररहस्यकार द्वारा त्रिपुटी प्रत्यक्ष का निरूपण

प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान[८] - ये तीन चीज़ें प्रकाशित होती

१. तं०र०, पृ० १७
२. न च मानसप्रत्यक्षेणात्मविषयज्ञानं भवति, एकस्यैव कर्तृकर्मभावविरोधात्। प्र०वि०, पृ० ९६ (द्रष्टव्य- प्र०पं०, पृ० ३३३)
३. ग्राहकत्वेनैवात्मनः सिद्धिः, न ग्राह्यत्वेन .... न चैकस्य कर्म कर्तृभावः क्वचिदपि दृष्टः। प्र०वि०, पृ० ९४, ९६
४. तस्मादात्मविषयमात्मकर्तृकमेव किमपि ज्ञानं शशविषाणतुल्यमेव। प्र०वि०, पृ० ९६
५. ..... विषयेषु प्रकाश-मानेषु ज्ञानाश्रयतया प्रकाशते। तं०र०, पृ० १७
६. अवश्यं ज्ञातुरनुभवो मेयानुभवेष्वनुवर्तते। अन्यथा स्वपरसवेद्ययोरनतिशयः स्यात्। वही, पृ० १७
७. भवति च विषयवित्तौ मयेदं विदितमिति सर्वेषां सर्वत्र प्रतिभासः। सर्वविषयबोधे आत्मनोऽहमिति प्रतीतिरास्थेया...। प्र०वि०, पृ० ९५
८. प्र०पं०, पृ० ३३४

हैं। प्रभाकर दर्शन में इसे 'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष' कहा गया है। इनमें से आत्मा विषय ज्ञान में कर्ता के रूप में सर्वत्र आलोकित होता है। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि विषय ज्ञान और आत्मज्ञान सापेक्ष हैं। इस सम्बन्ध में प्रकरणपञ्चिकाकार शालिकनाथ मिश्र[१] को उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार रामानुजाचार्य कहते हैं कि[२] विषय प्रकाश से रहित आत्मा प्रकाशित नहीं होता और आत्म-प्रकाश (ज्ञाता) के बिना विषय भी प्रकाशित नहीं हो सकते। जैसे ज्ञेय के लिए ज्ञाता अपेक्षित है वैसे ही ज्ञाता के ज्ञान के लिए भी ज्ञेय का अवभास सापेक्ष है - प्रभाकर-विजयकार ने भी यही पुष्टी की है।[३] इस प्रकार इस त्रिपुटी प्रत्यक्ष के आधार पर ज्ञान गुणाश्रय आत्मा की प्रतीति होती है और तन्त्ररहस्यकार के अनुसार यही (त्रिपुटी) विषय ज्ञान में प्रमाण भूत है।

रामानुजाचार्य द्वारा आत्मा के कर्म होने का खण्डन

ग्रन्थकार ने आत्मा को कर्म की कोटि में रखने वालों का तार्किक ढंग से निराकरण किया है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि यह संवित् (त्रिपुटी) पुरुष को विषय बनाती अवश्य है लेकिन उस संवित्ति के फल का भागी होने पर भी वह पुरुष (आत्मा या ज्ञाता) में कर्मता प्रसक्त नहीं होने देती।[४] प्रकरणपञ्चिकाकार एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे गमन के फल से संयुक्त गन्ता में कर्मता नहीं आती-कर्तृता ही रहती है वैसे ही ज्ञाता भी संविति के फल का भागी होने पर भी कर्म नहीं बन जाता है अपितु कर्ता ही बना रहता है।[५]

---

१. न ह्यात्माविषयाननुविद्धोऽवभासते विषयाश्च बोद्धुर्यनवभसमाने भासन्ते। तं०र०, पृ० १७
२. अतो विषय-बोधादेवात्मा स भासोऽङ्गीकर्तव्यः। प्र०वि०, पृ० ९६
३. तथा आत्मा .... ज्ञानाश्रयतया प्रकाशते। तस्मात्सेव संविद्विषये प्रमाणम्। तं०र०, पृ० १७ / सर्वाऽपि संवित् त्रितय प्रकाशिका, पृ० १७
४. सैव पुरुषं विषयीकरोतीति तत्संविति-फल-भागित्वेऽपि पुरुषस्य न कर्मता। कर्तृतैव। तं०र०, पृ० १७
५. यथा गमनफलसंयोग-योगिनोऽपि गन्तुर्न कर्मता किन्तु कर्तृतैव, तथा बोद्धुरपि वेदितव्यम्। प्र०पं०, पृ० ३३४

प्राभाकराभित त्रिप्रकारता में प्रसंगत : ज्ञान निरूपण

ज्ञाता एवं ज्ञेय विषयक चर्चा के बाद ज्ञान पर भी प्राभाकरों ने पूर्वपक्षों को दिखाते हुए सिद्धान्त पक्ष को स्थापित किया है। कुमारिलभट्ट और उसके अनुयायी ज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं मानते।[१]

कुमारिल भट्ट के अनुसार 'यह घड़ा है' इस घट ज्ञान से एक 'ज्ञातता' नामक धर्म की उपपत्ति होती है – इस ज्ञातता के प्रत्यक्ष से 'मैं घड़े को जानता हूँ' इस प्रामाणिक ज्ञान का उदय होता है और यह ज्ञान ज्ञातता लिङ्गक होने के कारण अनुमान सिद्ध है।[२] ज्ञान की आनुमानिकता को शास्त्रदीपिकाकार ने भी स्वीकार किया है।[३] हिरियन्ना के शब्दों में[४]– 'ज्ञान की उत्पत्ति केवल अनुमान से जानी जा सकती है। ज्ञान वस्तु को तो प्रकाशित करता है – परन्तु अपने को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं रखता' – जब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है तब 'ज्ञातता से यह अनुमान किया जाता है कि आत्मा को पहले ज्ञान हो चुका। जहाँ तक आत्मा के ज्ञान का प्रश्न है – कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में आत्म ज्ञान नहीं रहता अपितु आत्मसंविति में ही आत्म ज्ञान की सत्ता रहती है।[५]

शालिकनाथ मिश्र और तन्त्ररहस्यकार रामानुजाचार्य ने कुमारिलभट्ट के मत को पूर्वपक्ष में इस प्रकार रखा है – जैसे 'अङ्गुली के अग्रभाग के स्पर्श के लिए दूसरी अंगुली अपेक्षित है वैसे ज्ञान को प्रकाश के लिए अन्य ज्ञान का होना आवश्यक है। ज्ञान स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता।[६]

---

१. मीमांसा-दर्शन-विमर्श, षष्ठ अध्याय, पृ० ८५

२. मीमांसा-दर्शन-विमर्श – षष्ठ अध्याय, पृ० ८५

३. शा०दी० भूमिका (सुब्रह्मण्य शास्त्री), पृ० ४३

४. भा०द० की रूपरेखा, पृ० ३०२

५. ..... इति सिद्धः शरीरातिरिक्तो मानसप्रत्यक्षरूपाऽहं प्रत्यय-गम्यो ज्ञाता। शा०दी०, पृ० २५३-५४
द्र० – श्लो०वा० आत्मवाद०, पृ० १४०-४२

६. अङ्गुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति।
स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मना ज्ञातुमर्हति।। तं०र०, पृ० ७ (उद्धृत प्र०पं० से); प्र०पं०, पृ० १८७ (उद्धृत वृ०दी० से)

रामानुजाचार्य के मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश

रामानुजाचार्य के मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यहाँ पर स्वयंप्रकाश अथवा स्व-प्रकाश शब्द भी विचारणीय है। इसमें 'प्रकाश' का अभिप्राय 'व्यवहार हेतुत्व' है। जैसे 'घट-प्रकाश' का अभिप्राय है घट व्यवहार हेतु। इसी प्रकार स्वप्रकाश शब्द का तात्पर्य यह है - कि जो स्वयं ही स्व-व्यवहार का हेतु हो।[१] इस शब्द का 'स्वस्य प्रकाशः'[२] अथवा 'स्वश्चासौ प्रकाशश्च'[३] - ऐसा विग्रह करना उचित नहीं होगा। स्वप्रकाश शब्द को समझने के बाद उसमें कोई दोष नहीं दिखाया जा सकता।

रामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञान के स्वप्रकाश मानने पर कर्म-कर्तृभाव विरोध नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि वह उपलब्ध नहीं है। हम लोक-व्यवहार में भी ज्ञान का उसकी अपनी अपेक्षा से कर्तृ कर्म भाव विरोध नहीं देखते। इसी प्रकार अर्थ प्रकाशक होने पर भी स्वप्रकाशकत्व विरोध नामक दूसरा दोष भी इसमें नहीं आ सकता - क्योंकि प्रतीति के बल से ऐसा देखा जाता है कि ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होते हुए वह अपने को भी प्रकाशित करता है[४] जैसे दीपक के ज्ञान के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती - बल्कि दीपक पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और स्वयं को भी प्रकाशित करता है - इससे भाट्टाभिमत ज्ञान के अनुमेय होने का भी खण्डन हो जाता है।[५] जैसाकि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है।

प्रभाकर मतानुसार ज्ञान के प्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं

प्रभाकर दर्शन का यह दृढ़ विश्वास है कि ज्ञान अपने में यथार्थ एवं

१. प्रकाशशब्देन व्यवहार हेतुत्वमुच्यते। प्र०वि०, पृ० २९
२. स्वप्रकाश इति स्वयमेव स्वव्यवहार हेतुरित्यर्थः। वही, पृ० २९
३. प्र०वि०, पृ० २९
४. तत्र किं कर्मकर्तृभावविरोधोऽभिमतः अथार्थप्रकाशकस्य स्वप्रकाशकत्व- विरोधो वा। न प्रथमः अनभ्युगमात्। न हि वयं ज्ञानस्य स्वापेक्षया कर्मकर्तृभावमभ्युपगच्छामः। न द्वितीयः। प्रतीतिबललब्धत्वात्। तं०र०, पृ० ८
५. अत एव ज्ञानस्य तदभिनतं नित्यानुमेयत्वमप्यपास्तम्। तं०र०, पृ० ८

स्वप्रकाश-स्वरूप है। प्रकरणपञ्चिकाकार कहते हैं कि यदि ज्ञान स्वयंप्रकाश न होता तब तो परापेक्षा उचित है जैसे प्रमेय या प्रमाता दोनों ज्ञानापेक्ष हैं परन्तु ज्ञान तो स्वयंप्रकाश है[१], उसके लिए ज्ञानन्तर की आवश्यकता नहीं।[२]

'एक अङ्गुली दूसरी अङ्गुली का स्पर्श करती है और अपने स्पर्श के लिए दूसरी अङ्गुली की अपेक्षा रखती है' - इसी प्रकार ज्ञान भी अपने से अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता - पूर्वपक्ष के इस कथ्य का खण्डन करते हुए - प्रभाकर विजयकार कहते हैं कि किसी पदार्थ में कोई असाधारण व्यापार स्वयं उत्पन्न होने में समर्थ होने पर वह सजातीय की अपेक्षा नहीं किया करता है - अङ्गुली स्पर्श तो असाधारण कार्य नहीं है- दूसरी अङ्गुली से छुई जा सकने के कारण।[३] वैसे भी समस्त ज्ञान एक जातीय ही है - घट-पटादि का ज्ञान तो औपाधिक भेद है अतः सिद्ध साधनता नामक दोष भी नहीं हो सकेगा[४] और परापेक्षा भी युक्ति संगत नहीं - इस प्रकार तन्त्ररहस्यकार[५], प्रकरणपञ्चिकाकार एवं प्रभाकर विजयकार[६]- इन तीनों - स्तम्भभूत प्राभाकर आचार्यों ने ज्ञान को स्वप्रकाश सिद्ध किया है।

आत्मा अणु नहीं - विभु है

प्राभाकर मतानुसार आत्मा को अणु नहीं माना जा सकता क्योंकि अणु मानने पर एक साथ पैर और सिर की वेदनाकी अनुभूति नहीं हो सकेगी।[७]

आत्मा को शरीर-परिमाण वाला भी नहीं माना जा सकता क्योंकि

१. किञ्च स्वत एव यदुपपद्यते न तत्र परापेक्षायुक्ता। मेयानां मातुश्च स्वयंप्रकाशो नोपपद्यत इति, युक्ता तयोः परापेक्षा। मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्तीति स्वयं प्रकाशकमिति। प्र०पं०, पृ० १७३

२. न तु तस्यां संविदन्तरं चकास्ति। वही, पृ० १७३

३. यस्य पदार्थस्य यदसाधारणं कार्यं तस्य कार्यस्य स्वस्मिन्नुत्पत्तौ सजातीयपरानपेक्षत्वं साध्यम्, इह तु स्पर्शकार्यमङ्गुल्या नैवासाधारणम्, अवयवान्तरेणापि स्प्रष्टुं शक्यत्वात्। प्र०वि०, पृ० २८

४. ज्ञानं सर्वमेकजातीयम्, घटज्ञानं पटज्ञानमित्युपाधिभेदाद्भेदः ..... अतश्च न सिद्धसाधनता। वही, पृ० २८

५. तं०र०, पृ० ७-८

६. द्रष्टव्य (प्र०वि०) संवित्स्वप्रकाशता प्रकरणम्। पृ० २७-२८-२९, प्र०पं०, पृ० ३३३-३४

७. अणुपरिमाणत्वे युगपदेव शिरः पादवेदना नोपपद्यते। प्र०वि०, पृ० ९१

ऐसा मानने पर उसमें सावयवता होने लगेगी। फिर तो एक और समस्या खड़ी होगी - मच्छर के शरीर में हाथी का आत्मा कैसे आयेगा क्योंकि मरने के बाद आत्मा को योनी बदलनी भी पड़ती है।[१] इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आत्मा को विभु मानना पड़ेगा। अनुभव में भी ऐसा ही देखा जाता है - एड़ी से चोटी तक सारे शरीर में जहाँ भी वेदना होती है तो उसकी अनुभूति सर्वत्र समान रूप से होती है - अतः आत्मा का विभुत्व सिद्ध है।

मन

मन को अन्तःकरण माना गया है। आत्मा को सुख दुःखादि की अनुभूति केवल बाह्य कारणों (इन्द्रियों) से नहीं हो सकती। बाह्य इन्द्रियाँ विषयों का जो ज्ञान प्राप्त करती हैं उसको मन ही आत्मा के पास पहुँचाता है।[२] तर्क भाषाकार ने 'मनस्त्व' जाति से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य को 'मन' कहा है।[३]

मन का अनुमान

एक समय में एक ज्ञान होने से मन का अनुमान किया जाता है।[४] स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, स्वप्न, सुख एवं इच्छादि गुणों को न्याय भाष्यकार ने अतिरिक्त गुण माना है।[५] प्रशस्तपाद भाष्य में अनुमान वाक्य द्वारा सिद्ध करते हुए कहा गया है कि - आत्मा का इन्द्रियों के साथ और सभी इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी एक वस्तु के ज्ञान

---

१. किञ्च शरीर परिमाणत्वे सावयवत्व-प्रसङ्गः। .... किञ्च मशकहस्तिदेहयोरात्मनो विषमपरिमाणत्व-प्रसङ्गश्च। प्र०वि०, पृ० ९१, प्र०पं०, पृ० ३४३-४४

२. सुखदुःखाद्युप्लब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। .... त०सं०, पृ० २४

३. मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः। त०भा०, पृ० १९०, प्र०पा०भा०, पृ० ५६

४. युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्। न्या०सू० १-१-१६

५. न्या०भा० १.१.१६

के साथ दूसरी वस्तु के ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पाती - इससे सिद्ध होता है कि मन नामक एक विशेष करण है जो क्रमशः ज्ञानों का साधन बनता है।[१] इसी प्रकार कई बार चक्षु आदि के न रहने पर भी सुखदुःखादि की अनुभूति होती है - जो मन का अनुमान कराती है।[२] न्यायवार्तिककार के अनुसार स्मृति आदि का आधार तो आत्मा ही है - परन्तु करण मन है इन्द्रियाँ नहीं।[३]

भाट्ट मतानुसार मन विभु है

नारायण भट्ट प्रभृति भाट्ट मतानुयायी मन को विभु मानते हैं। ये मन में क्रियावत्ता को भी नहीं मानते।[४] यदि कोई कहे कि दो विभु द्रव्यों में क्रियाशीलता नहीं हो सकती - तो भाट्टमतानुसार यह शंका उचित नहीं क्योंकि उनका संयोग स्वभावसिद्ध है जैसे आत्मा और मन दोनों विभु हैं- ये वियुक्त नहीं हो सकते। भाट्टों के अनुसार 'दो विभु द्रव्यों का संयोग कर्मजन्य ही हो - ऐसा नहीं माना जाता - क्योंकि वह संयोग जन्य ही नहीं होता, अजन्य होता है।'[५]

विभुद्रव्यों का संयोग

पार्थसारथि मिश्र ने भी अनुमान द्वारा दो विभु द्रव्यों के संयोग को सिद्ध किया है - यथा - 'विभूनी मिथः संयुक्ते द्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटाकाशवत् इति।'[६] इसी प्रकार 'पूर्वीय आकाश', 'पश्चिमीय आकाश' इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा भी आकाश और दिगादि विभू द्रव्यों का संयोग स्पष्ट है।

---

१. सत्याप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्ति-दर्शनात्- करणान्तरमनुमीयते। प्र०पा०भा०, पृ० ५६
आत्मेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम्। वै०सू० ३.२.१

२. तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपिचक्षुरादिषु जायमानत्वात् ..... करणं तन्मनः तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम्। त०भा०, पृ० १९०

३. न्या०वा० १.१.१६

४. विभुपरिमाणमस्पन्दं च मनः। मा०मे०, पृ० २०२

५. ..... उभयोरपि विभुत्वे सुतरामितरेतर-संयोगोपपत्तेः। विभूनां परस्परसंयोगः कर्मज इति न वयं सङ्गिरामहे, तत्संयोगस्याजन्यत्वात्। मा०मे०, पृ० २०६

६. न्या०र०मा०, पृ० ६३

पार्थसारथि मिश्र ने कहा है कि मन पञ्चभूतों में से किसी एक का हो सकता है अथवा भौतिकता से विलक्षणतत्त्व भी हो सकता है। यह आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ग्रहण करने में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है, बाह्य रूपादि में स्वतन्त्र नहीं है।[१]

प्राभाकर मतानुसार मन का निरूपण

प्रभाकर दर्शन मन के विषय में न्याय और वैशेषिकों का ही समर्थन करता है। यह अणु परिमाणी है और नित्य है। प्रत्येक जीव में होने से ये मन असंख्य हैं।[२] इसके अणु परिमाण की पुष्टि इसलिए भी हो जाती है, क्योंकि जो पदार्थ नित्य है वह विभु न होने पर अणु परिमाणी होता है।[३]

नन्दीश्वर के मत में मन

प्रभाकर मतानुयायी आचार्य नन्दीश्वर ने मन की सत्ता को सिद्ध[४] करते हुए इसे नित्य और अणु रूप बताया है।[५] नित्य द्रव्य को अणु या विभु परिमाणी माना जाता है मन विभु नहीं अणु परिमाणी है।

मन के विभुत्व का खण्डन

नन्दीश्वर के अनुसार मन को विभु नहीं माना जा सकता क्योंकि विभु मानने पर इसका आत्मा या इन्द्रियों से संयोग नहीं बन सकेगा जबकि मन संयुक्त होकर ही ज्ञान क्रिया में कारण बनता है।[६] यह संयोग किन्हीं दो अप्राप्त अर्थात् पूर्वतः असंयुक्त द्रव्यों की प्राप्ति रूप होता है जोकि

---

१. मनस्तु पृथिव्यादीनामेवान्यतमात्मकम्, तेभ्योऽन्यद्वा सर्वथा तावदस्ति मनः। तच्चात्मतद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते - न बाह्येषु रूपादिष्वित्यान्तरमित्युच्यते। शा०दी०, पृ० ५३

२. ..... तच्चप्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणु-रूपं नित्यं च। त०सं०, पृ० २४

३. तदभाववचनादणुपरिमाणम्। प्र०पा०भा०, पृ० ५७

४. बुद्ध्यादिकं तावत् कार्यम् तस्यात्मसमवायित्वेऽसमवायिकारणत्वेनद्रव्यान्तर- संयोग एवास्थेयः। तद् द्रव्यं मनः शब्दाभिधेयम् ....। प्र०वि०, पृ० ३०

५. तच्चनित्यमित्यास्थेयम् ..... तस्य च विभुत्वमयुक्तम्। वही, पृ० ३०

६. संयोगाभवप्रसंगात्, संयोगस्य साक्षाद्वा परम्परया वा क्रियैककारणम् सम्प्रतिपन्ने संयोगे तथा दर्शनात्। प्र०वि०, पृ० ३१

विभु द्रव्यों में सम्भव नहीं है।[१] दूसरी बात यह है कि संयोग हमेशा दो वस्तुओं के बीच क्रियाजन्य होता है - विभु द्रव्यों में संयोग मानने पर तो साध्य की सिद्धि प्रमाणान्तर से होने से बाधित विषय हेत्वाभास आने लगेगा अतः प्रभाकर विजयकार ने मन की सत्ता को अणु रूप में सिद्ध किया है।[२]

शालिकनाथ मिश्र के अनुसार मन

शालिकनाथ मिश्र के अनुसार मन का आत्मा से संयोग होने पर ही आत्मा के गुणों की उत्पत्ति होती है और यही मन की सत्ता में प्रमाण है।[३] बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न - इन समस्त गुणों का प्रादुर्भाव मन की सहायता से ही होता है।[४]

नैयायिकों के अनुसार एक शरीर में एक ही मन है।[५] न्या० वार्तिक के अनुसार अधिक मन मानने पर अधिक ज्ञान एक ही साथ होने लगेंगे, जोकि दृष्टि विरुद्ध है।[६]

कई बार मन की गति तीव्रतम होने से उसकी विभुता का भ्रम होने लगता है वस्तुतः उसकी यह प्रतीति शतदल कमलछेदन अथवा अलातचक्र के समान है, जैसे अलातचक्र तीव्र गति से घुमाने पर गोलाकार दीखता है जबकि है वैसा होता नहीं। इसी प्रकार सैकड़ों कमल दलों का छेद करते समय ऐसा लगता है कि जैसे एक-साथ सब में छेद हो गया हो जबकि वस्तु स्थिति यह है कि छेदनव्यापार क्रमशः हुआ है प्रथम दल का छेदन होकर ही द्वितीय में होता है लेकिन यह सब तीव्रता के कारण दिखाई

१. अप्राप्तयोर्द्रव्ययोरेव प्राप्ति-संयोगः, स च विभुनो र्नसंभवति। वही, पृ० ३०

२. ततश्चान्यत्र संयोगः क्रियाजन्यत्वेन दृष्टः ..... विभुद्वये तु संयोगे साध्येकारणाभावात् कार्याभावानुमान-बाधात् बाधित-विषयत्वम्। अतो न विभुनोः संयोगः ..... अतः पारिशेष्यादणुत्वमेव निश्चीयते। प्र०वि०, पृ० ३१-३२

३. प्र०पं०, पृ० ३३०

४. बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष प्रयत्ना-दृष्टसंस्काराणां नवानामपि वैशेषिकात्मगुणानामात्ममनस्संयोगे नैवोत्पत्तेः। प्र०पं०, पृ० ३३०

५. अणु-मन एकं चेति। न्या०भा० ३.२.६०

६. न्या०वा० ३.२.५७

पड़ता है। इसी प्रकार मन भी आशुगामी होने से युगपत् ज्ञानों को सम्पन्न कराता हुआ सा प्रतीत होता है।

न्या०वा० तात्पर्य टीकाकार के अनुसार मन एक समय में एक ज्ञान का ही निष्पादक है - आत्मा एक समय में अनेक क्रियाओं को कर सकता है[२] - यथा माणवक चलता हुआ, पढ़ता हुआ कमण्डलु ले जाता है।

रामानुज के अनुसार 'तम' द्रव्य नहीं

कुछ लोग तम को द्रव्य मानते हैं भाट्टमतानुयायी नारायण भट्ट ने भी तम प्रसंग उठाया है।[३] तन्त्ररहस्यकार रामानुज कहते हैं कि तम को अतिरिक्त द्रव्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि नीलिमादि उसका गुण नहीं है वह तो अन्धों की प्रतीति के समान आभास मात्र है।[३] कणाद के शब्दों में तेज का अभाव मात्र 'तम' है - इसे द्रव्य नहीं कहा जा सकता।[४] जहाँ तक चलने का प्रश्न है रामानुज की दृष्टि में तम (अन्धकार) नहीं चलता है - अपितु वह तो प्रकाश निरोधक वस्तु की गति होती है।[५] जैसाकि वै०सू० कार कणाद ने भी माना है।[६] उसी से भूभाग पर छाया तथाकथित तम दिखाई देने लगता है। वस्तुतः गति छाया में नहीं होती - वस्तु में होती है - तो छाया हमें चलती हुई दिखाई देती है औपाधिक है।[७] अतः रामानुज तम को अतिरिक्त द्रव्य नहीं मानते।[८]

गुण गवेषण

रामानुजाचार्य के अनुसार गुणों का नित्यानित्य विभाग और उनकी उत्पत्ति - स्थिति विनाश के प्रकारों का वर्णन वैशेषिक दर्शनकार महर्षि

१. न्या०वा० १.१.१६ तात्पर्यटीका
२. मा०मे०, पृ० १५५-५६
३. अन्धानामिव केवलं नीलिमाभिमानः। तं०र०, पृ० १८
४. वै०सू० ५.२.१९
५. अपवारितालोकं केवलं भूभागादिकमेव छाया। तं०र०, पृ० १८
६. तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च। वै०सू० ५.२.२०
७. भा०द० परिचय, पृ० १९
८. तमो नाम द्रव्यान्तरं न भवति। तं०र०, पृ० १९

कणाद द्वारा किया जा चुका है। अतः वेदार्थ विचार में इनका उपयोग न होने से इनका विवेचन नहीं किया गया है।[१] तथापि प्रसंगवश इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

लक्षण

वै०सू० कार महर्षि कणाद ने द्रव्याश्रयी, अगुणवान् एवं संयोग-विभाग में अकारण-भूत तत्त्व को 'गुण' कहा है।[२] प्रशस्तपादभाष्यकार का भी यही अभिमत है।[३] सप्तपदार्थीकार शिवादित्य के अनुसार – जो जातिविशिष्ट अचलात्मक और समवायिकारण रहित पदार्थ है उसे 'गुण' कहते हैं।[४] तदनुसार जातिमत्ता से सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव तथा अचलात्मक कहने से कर्म एवं समवायिकारण रहित कहने से द्रव्य छंट जाता है, परिशेषतः गुण-मात्र रहने से यह उसका लक्षण बन जाता है।

भाट्टमतानुयायी नारायणभट्ट ने भी गुण का लक्षण इन्हीं के समान किया है।[५] प्रभाकर के मत में गुण का लक्षण – गुरु-सम्मत पदार्थकार के अनुसार इस प्रकार है[६] – 'निरवयवो द्रव्यैक समवेतः प्राप्तिस्विकरूपेण नित्यद्रव्यवृत्तिः संयोगविभागयोरनपेक्षया अहेतुर्गुण इति।'

गुणों की संख्या

वै०सू० कार के अनुसार गुणों की संख्या १७ है।[७] प्रशस्तपाद ने – गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार – ये सात और जोड़कर २४ गुण बताये हैं।[८] कुमारिलभट्ट के मत में शब्द, धर्म और

१. तं०र०, पृ० १८

२. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। वै०सू० (१.१.१६)

३. प्र०पा०भा०, पृ० ६०

४. गुणस्तु, गुणत्व जातियोगी जातिमत्वे सत्यचलनात्मकत्वे सति समवायिकारणरहितश्चेति। स०प०, पृ० २२

५. कर्मणोव्यतिरिक्तत्वेसत्यवान्तर जातिमान्।
उपादानत्वनिर्मुक्तो गुणो गुणविदां मतः।। मा०मे०, पृ० २२७

६. मा०मे० गत प्रथम परिशिष्ट, पृ० २९३

७. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानिपृथकत्वं संयोगविभागो परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेइच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्चगुणाः। वै०सू० (१.१.६)

८. प्र०पा०भा०, पृ० ६०-६१

अधर्म-गुण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने ध्वनि, प्राक्ट्य तथा शक्ति को गुणों में लेकर २४ प्रकार के गुण माने हैं।[१]

२.०१ प्रभाकरमतानुसार गुणों की संख्या

प्रभाकर वे अनुसार गुणों की संख्या कुमारिल भट्ट से भिन्न है। इनके अनुसार शक्ति और संस्था गुण नहीं, अपितु पृथक् द्रव्य है। शब्द द्रव्य नहीं, गुण है।

तन्त्र रहस्यकार रामानुजाचार्य ने प्रभाकर मत में २२ गुणों का परिगणन किया है, जो निम्न है[२]- १. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. परिमाण, ६. पृथक्त्व, ७. संयोग, ८. विभाग, ९. परत्व, १०. अपरत्व, ११. गुरुत्व, १२. द्रव्यत्व, १३. स्नेह, १४. संस्कार, १५. शब्द, १६. बुद्धि, १७. सुख, १८. दुःख, १९. इच्छा, २०? द्वेष, २१. प्रयत्न, २२. और धर्म।

नारायणभट्ट ने मा०मे० में 'गुरुसम्मत पदार्थों' के अन्तर्गत अधर्म को भी गुण बताकर प्रभाकर मत में २३ गुण निगाये हैं।[३]

२.०२ गुणों का क्रमशः सामान्य वर्णन

१. रूप - रूप वस्तुओं के प्रत्यक्ष में किसी न किसी स्वरूप में अवश्य हेतु होता है - इसीलिए सर्वप्रथम इसकी गणना की गई है। चक्षुमात्र से ग्राह्य गुण 'रूप' कहलाता है।[४] यद्यपि इतरगुण भी चक्षु ग्राह्य हैं लेकिन वे अन्य इन्द्रियों से भी ग्राह्य होने के कारण 'चक्षुर्मात्रग्राह्य' नहीं है - यथा सङ्ख्यादि। इसे शुक्ल, रक्त, पीत, हरित और कृष्ण - भेद से पाँच प्रकार का स्वीकार करते हुए भाट्टमतानुयायी श्री नीलकण्ठ ने पृथिवी आदि त्रयी

१. स च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहबुद्धिसुखदुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नसंस्कारध्वनि प्राकट्यशक्ति भेदाच्चतुर्विंशति-विधः। मा०मे०, पृ० २२७

२. गुणास्तुरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रव्यत्वस्नेह-संस्कारशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माः। तं०र०, पृ० १८

३. मा०मे० प्रथम परिशिष्ट, पृ० २९३

४. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। त०सं०

और तम में भी माना है।[१] गुरु सम्मत पदार्थों में रूप को नित्य और अनित्य द्रव्यों में नित्य माना है - इसका कार्य व्यवहार समवाय सापेक्ष है।[२] यह पृथिवी मात्र में अनित्य होता है। जल और तेज में परमाणु रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है।[३]

२. **रस** - रसाग्राह्य गुण 'रस' कहलाता है। इसका आधार पृथिवी और जल है।[४] यह दो प्रकार का होता है - पाकज और अपाकज।[५] पार्थिव रस ६ प्रकार का होता है - मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त। यह जात पाकज कहलाता है। जल में मधुर ही रहता है जो अपकाज होता है- यह परमाणु रूप जल में नित्य और कार्य रूप में अनित्य रहता है।[६] यह अनेकत्वोपेत रहते हुए भी एकत्व सम्प्राप्त रहता है। इसके भेद-प्रभेदों को इस प्रकार समझा जा सकता है -

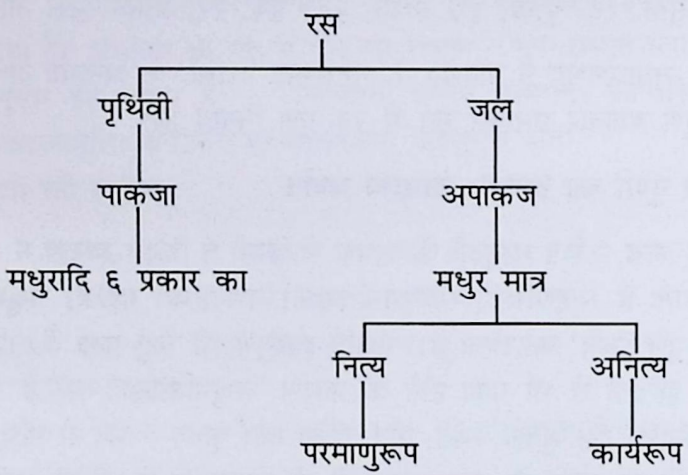

१. भाट्टार्कः, पृ० २९
२. मा०मे०प्र०परि०, पृ० २९९
३. त०भा०, पृ० १९२
४. रसो रसनाग्राह्यः। प्र०पा०भा०, पृ० ७०, त०सं०, पृ० २५, त०भा०, पृ० १९२
५. 'गुरुसम्मत-पदार्थ'। मा०मे०का० प्रथम परिशिष्ट, पृ० २९९
६. वही, पृ० २९९

३. **गन्ध** – घ्राण ग्राह्य गुण 'गन्ध' कहलाता है।[१] यह दो प्रकार का होता है – सुगन्ध और दुर्गन्ध। नारायणभट्ट ने साधारण गन्ध नामक एक तीसरा भेद भी माना है।[२] यह गन्ध पृथिव्याश्रित है और अनित्य है। जल और वायु आदि में जो गन्ध है वह वस्तुतः उनकी न होकर पृथिवी क ही होती है- जोकि संसर्ग में उनमें अनुभूत होने लगती है।[३] अन्यत्र जो भी गन्ध या दुर्गन्ध प्रतीत होती है वह सब पार्थिव गन्धांशों के कारण ही है।

४. **स्पर्श** – स्पर्श त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य विशेषण गुण है।[४] यह पृथिवी, जल, तेज और वायु में पाया जाता है। यह शीत, उष्ण और अनुष्णशीत – भेद से तीन प्रकार का होता है।[५] जल का स्पर्श शीतल, अग्नि का उष्ण और पृथिवी तथा वायु का अनुष्ण शीत होता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण आश्रय भेद से नित्य और अनित्य – दोनों ही कहे जा सकते हैं। ये चारों परमाणुगत नित्व और कार्यगत अनित्य होते हैं।[६] परन्तु पृथिवी के रूपादि सदैव अनित्य ही रहते हैं चाहे वे परमाणु गत हो अथवा कार्यगत हों।[७]

५. **परिमाण** – गुरुसम्मत पदार्थकार ने प्रशस्तपाद भाष्य के समान परिमाण का लक्षण 'मानवव्यवहार हेतुर्गुणः परिमाणम्' किया है।[८] जिस गुण से माप आदि व्यवहार चलता है उसे 'परिमाण' कहते हैं। अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ – भेद से यह चार प्रकार का होता है।[९] यह आश्रय भेद से नित्य और अनित्य होता है। परमाणुओं और आकाश का परिमाण नित्य

---

१. गन्धो घ्राणग्राह्यः। प्र०पा०भा०, पृ० ७०
२. मा०मे०, पृ० २२८
३. जलादौ गन्ध प्रतिमानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्। त०भा०, पृ० १९२
४. स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। प्र०पा०भा०, पृ० ७०, त०भा०, पृ० १९३
५. शीतोष्णानुष्णशीतभेदात् त्रिविधः। प्र०पा०भा०, पृ० ७०
६. त०भा०, पृ० १९३, त०सं०, पृ० २७
७. रूपादि-चतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्र अपाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। त०सं०, पृ० २७
८. मा०मे० (प्र०परि०), पृ० ३००
९. वही, पृ० ३००

तथा अन्य सभी परिमाण अनित्य होते हैं आश्रय नाश के साथ उनका भी नाश हो जाता है।[१]

६. **पृथक्त्व** – प्र०पा०भा० कार वस्तुओं में भिन्नता को निरूपित करने वाले गुण को 'पृथक्त्व' कहते हैं – 'पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम्'। यह भी आश्रय भेद से नित्य और अनित्य होता है।

प्राभाकर कार्य द्रव्यों में पृथक्त्व को नहीं मानते।[२] नारायणभट्ट ने प्राभाकरों के इस मत को 'पदार्थदीपिका' को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत किया है।[३] जबकि भाट्टमतानुसार कार्यद्रव्यों में भी यह पृथक्त्व नामक गुण प्रत्यक्षतः देखा जाता है।

७. **संयोग** – यह पदार्थ उससे संयुक्त है – ऐसे व्यवहार के हेतु वाले गुण को 'संयोग' कहते हैं[४] अथवा दो पृथक् पदार्थों का मिल जाना ही संयोग है।[५] संयोग युतसिद्धों (दो अलग-अलग वस्तुओं) का ही हो सकता है।[६] व्यापक पदार्थों का संयोग नहीं हो सकता क्योंकि जब वे पृथक् ही नहीं है तो संयोग कैसा?

मानमेयोदयकार नारायणभट्ट ने नित्य और अनित्य भेद से यह संयोग द्विविध माना है – तदनुसार नित्य विभूव्योमकालादि का संयोग नित्य है। जबकि प्राभाकर अनित्य संयोग को ही मानते हैं – वह तीन प्रकार का है[७]–

---

१. भा०द०, पृ० ६७

२. मा०मे० (प्र०परि०), पृ० ३००

३. पृथक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु।
भवेद् व्यावर्तकोधर्मः कार्यद्रव्येषु नेष्यते।। मा०मे०, पृ० २२८ (पदार्थदीपिका से उद्धृत)

४. संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। त०भा०, पृ० २०१

५. अप्राप्तयोः प्राप्तिसंयोगः। प्र०पा०भा०, पृ० ९९

६. संयोगः ..... नित्यानित्यभेदेनद्विविधः। तत्रनित्यविभूनां व्योम-कालादीनां परस्परसंयोगो नित्यः। मा०मे०, पृ० २३३

७. स च त्रिविधः – अन्यतर कर्मजः, उभयकर्मजः संयोगश्च। प्र०पा०भा०, पृ० १००
प्राभाकर मीमांसकास्तु वैशेषिक-सम्मतां सरणिमनुसरन्तस्संयोगजस्य त्रैविध्यमातिष्ठन्ते। प्र०प०, पृ० ७८ पर टिप्पणी-१

१. **अन्यतरकर्मज** - जिस संयोग में एक पक्ष स्थायी और दूसरा क्रियाशील हो, जैसे पर्वत पर श्येन का बैठना। दूसरे का कर्म संयोग का कारण होने से 'अन्यतरकर्मज' कहा गया है।

२. **उभयकर्मज** - जो संयोग उभय क्रियाशीलता सापेक्ष हो - यथा दो मल्लों का संयोग।

३. **संयोगज** - जहाँ एक संयोग से दूसरा संयोग भी गृहीत हो - जैसे अंगुली का वृक्ष से संयोग होने पर शरीर और वृक्ष का संयोग माना जाना। भाट्ट मीमांसक इसे नहीं मानते।[१] शास्त्रदीपिकाकार ने इस संयोगज संयोग का खण्डन किया है।[२]

८. **विभाग** - जो पदार्थ संयुक्त थे उनका अलग होना 'विभाग' है। यह भी तीन प्रकार का है - १. अन्यतर कर्मज - पर्वत की शिखर से बाज का उड़ना। २. उभयकर्मज - दो मल्लों का पृथक् होना। ३. विभागज - वृक्ष से अंगुली को हटाना।

९-१० परत्व और अपरत्व - दूर और निकट के वाचक गुण क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' कहलाते हैं।[३] यह इससे दूर है और यह इससे निकट है - यह व्यवहार - इनका लक्षण है 'प्रभाकर' सम्मत पदार्थ में तथा उदयनाचार्य कृत लक्षणमाला में भी ऐसा ही लक्षण मिलता है।[४]

देश और काल की दृष्टि से ये परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं यथा -

---

१. ..... भाट्टाः मीमांसकाः। संयोगजं संयोगं न स्वीकुर्वन्ति। वही, पृ० ७८

२. एतेन संयोगजसंयोगो निरस्तव्यो वेदितव्यः। यथा देवदत्त संयोग एव तस्मिन् कुण्डलिनि सञ्जाते कुण्डलि-संयोगो भवति, तथा तन्तुतुरी-संयोग एव तन्तो पटभावमापन्ने पटतुरी-संयोगो भवति न संयोगान्तरम्, प्रतीत्यभावात्। शा०दी०, पृ० २१६

३. परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्। प्र०पा०भा०, पृ० १२४

४. गु०स०प० (मा०मे०प्र०), पृ० ३०१
इदमस्मात्परमिदमस्मादपरमिति व्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे इत्यपि लक्षणम्। ल०मा०, पृ० ३३, देखिए मा०मे० (प्र०परि०, पृ० ३०१)

दैशिक परत्व - **दूरी पर** विद्यमान सूर्य

कालिक परत्व[१] - **दूरकालीन** रचा गया सूर्य

दैशिक अपरत्व[२] - **कुछ समय** पहले रखा गया दीपक।

इनका विस्तृत विवेचन 'वैशेषिक दर्शन' पर रचित ग्रन्थ 'वेशेषिक सूत्रोपस्कार' तथा 'भारतीय दर्शन परिचय' प्रभृति ग्रन्थों में देखा जा सकता है।[३]

११. गुरुत्व - जल और भूमि की वस्तुओं के पतन का जो प्रथम असमवायिकारण है, असाधारणकारण है उसे 'गुरुत्व' कहते हैं।[४] संयोग, प्रयत्न और वेग (संस्कार) ये पतन के अवरोधक हैं। इन तीनों के अभाव में ही यह गुरुत्व पतन रूप क्रिया को करता है। ये संयोग आदि प्रतिबन्ध जहाँ पतन रूप क्रिया को पैदा करते हैं वहाँ ये साधारण कारण मात्र होते हैं जैसे - घोड़े से गिरना, श्येनादि का प्रयत्नपूर्वक नीचे उतरना तथा बाण का वेग से गिरना आदि।[५] यह पतन गुरुत्व जनित नहीं है गुरुत्व तो प्रथम बार के पतन में ही कारण होता है।[६] द्वितीयादि क्षणों में तो वेग संस्कारादि से पतन होता है।

'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' के रचयिता शंकर मिश्र और प्र०पा०भा० कार ने इसको प्रत्यक्ष नहीं माना।[७] पतन रूप लिंग से इसका अनुमान किया जाता है।

१२. द्रवत्व - द्रवत्व स्पन्दन का असमवायिकारण है। समस्थान से नीचे

---

१. एकदिक्काभ्यामेक-कालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च। वै०सू० ७.२.२१, पृ० ४३३

२. कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च। वै०सू० ७.२.२२, पृ० ४३९

३. वै० सूत्रोपरस्कार: पृ० ४३२ से ४४० तक, भा०द०प०, पृ० ७०

४. गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। त०भा०, पृ० २०४

५. मा०मे०प्र०परि० ('गुरुसम्मतपदार्था:'), पृ० ३०२

६. त०भा०, पृ० २०४

७. तस्य रूपत्वादे: सामान्यस्य उद्भवस्य च गुरुत्वेऽभावान्न गुरुत्वं प्रत्यक्षम्। वै० सूत्रोपस्कार, पृ० २७९, प्र०पा०भा०, पृ० २१७

की तरफ बहने की क्रिया को स्यन्दन कहते हैं।[१] यह द्रवत्व दो प्रकार का होता है - सांसिद्धिक और नैमित्तिक। सांसिद्धिक जल का स्वाभाविक और विशेष गुण है। किसी निमित्त से होने वाला द्रवत्व 'नैमित्तिक' कहलाता है[२]- जैसे विद्युताप से अथवा दिव्य अग्नि संयोग से बर्फ पानी में रूप में प्रवाहित होने लगती है - इसी प्रकार घी, मोम, लाख, रांगा और स्वर्ण आदि भी अग्नि संयोग से पिघल कर बहने लगते हैं।[३] तर्क भाषाकार ने द्रवत्व को आद्य स्पन्दन का ही 'असमवायिकारण' कहा है।[४]

१३. स्नेह - मिट्टी इत्यादि के पिण्डी भाव का जो हेतु है अथवा असंयुक्त सत्तू आदि चूर्णित द्रव्यों का जो पिण्ड बन जाता है उसका कारण 'स्नेह' है।[५] यह केवल जल में रहता है। तैलादि में जो चिकनाई है वह भी जलीय ही है। गुरुसम्मत पदार्थ निरूपणकार के अनुसार द्रवत्व, स्नेह का काम नहीं कर सकता क्योंकि उससे तो काचकाञ्चनादि एवं सत्तू आदि बहने लगते हैं इसलिए उनके संग्रह के लिए 'स्नेह' नामक गुणान्तर को मानना पड़ेगा।[६]

१४. संस्कार - प्रथम तो व्यक्ति को किसी विषय की अनुभूति होती है उस अनुभूति की छाप जो चित्त में बीज रूप में बनी रहती है - वह 'संस्कार' कहलाता है जो 'संस्कार' इस व्यवहार का असामान्य कारण है।[७] सर्वप्रथम अनुभव, फिर संस्कार होता है इसी से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है।[८] - भावना, वेग और स्थितिपाक - भेद से ये संसकार तीन

---

१. द्रवत्वं स्यन्दनकर्मासमवायिकारणम्। समदेशस्थितस्य यत् समदेश-निम्न देशान्तरेषुक्षरणम्, तत् स्यन्दनम्। मा०मे० (प्र०परि०), पृ० ३०२

२. तत्तु द्विविधम्-सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। प्र०पा०भा०, पृ० २१८

३. वै०सू० २.१.६-७

४. द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। त०भा०, पृ० २०५

५. स्नेहः संग्रहमृजादिहेतुः ..... परस्परमसंयुक्तानां सक्त्वादीनां ..... पिण्डीभाव.....हेतुः। मा०मे०प्र०परि०, पृ० ३०२

६. नापि द्रवत्वमात्रकृतं तद्बीजं काचकाञ्चनादिरिति द्रवीभूतेरपि सक्त्वादि संग्रहानुत्पादात्। तेन स्नेहो नाम गुणान्तरम् - गुरुसम्मतपदार्थः। मा०मे०प्र०परि०, पृ० ३०२

७. त०भा०, पृ० २१२

८. आत्मनः संयोग-विशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः। वै०सू० ९.२.६

प्रकार का होता है।[१] आत्मा और मन के संयोग से जब ये संस्कार उद्बुद्ध होकर अनुभूत विषय की याद दिलाते हैं, तब 'भावनासंस्कार' कहलाते हैं।[२]

यह भावना संस्कार भी प्र०पा० के अनुसार पटु-अभ्यास-आदर प्रत्यय-भेद से तीन प्रकार का होता है।[३] पार्थिव द्रव्यों में कारण विशेष से उत्पन्न होने वाली क्रियाशीलता को 'वेग' कहते हैं। सप्तपदार्थीकार ने इसे 'कर्मजः संस्कारोवेगः' कहा है।[४] किसी वस्तु का अवयव स्थानान्तरित होने पर भी अपने स्वाभाविक स्थान पर पुनः आ जाने को **'स्थितिपाक'** कहते हैं - जैसे वृक्ष की टहनी आदि।[५]

१५. शब्द - शब्द आकाश का गुण है। यह श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है।[६] यह दो प्रकार का होता है १. वर्ण लक्षण २. और ध्वनि लक्षण। अकरादि को वर्णलक्षण और शङ्खादि की आवाज को ध्वनि लक्षण कहते हैं।[७] कुमारिल मतानुसार शब्द नित्य और विभू है। उसने इसे गुण नहीं द्रव्य माना है।[८] कुमारिलभट्ट के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने पर ही वेद का नित्यत्व स्वतः प्रमाणत्व और अपौरुषेयत्व सिद्ध होगा।[९] परन्तु प्राभाकर न्याय वैशेषिक को ही इस विषय में प्रमाण मानते हैं। नैयायिक शब्द का अर्थ के साथ सांकेतिक सम्बन्ध मानते हैं। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने वैयाकरणों के शब्दार्थाभेद का खण्डन करते हुए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम निर्धारित किया है। आगे चलकर 'न नित्यः सम्बन्धः उपपद्यते' कहकर शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व का भी निराकरण

---

१. प्र०पा०भा०, पृ० २२१
२. भावनाख्यः स्मृतिहेतुः संस्कारः। न्या०वा० ३.१.१९, प्र०पा०भा०, पृ० २२२
३. प्र०पा०भा०, पृ० २२२
४. भा०द०प०, पृ० ७३ पर उद्धृत
५. प्र०पा०भा०, पृ० २२३
६. शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः। वही, पृ० २३६
७. स द्विविधो - वर्णलक्षणः ध्वनिलक्षणश्च ....। वही, पृ० २३७
८. श्रोत्रमात्रेन्द्रिय-ग्राह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान्। द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमतेमतः। मा०मे०, पृ० २०८
९. मा०मे०, पृ० २१८ - द्रव्यनिरूपण - श्लो० ३३-३४

कर दिया।[१] न्यायवैशेषिक शब्द को क्षणिक मानते हैं।[२] यह शब्द वीचीतरंग न्याय से या कदम्बमुकुल न्याय से उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में स्थिर रहकर अगले शब्द को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है और अन्त्य शब्द श्रोत्र द्वारा गृहीत हो जाता है।[३]

१६. बुद्धि - न्या०वै० के अनुसार बुद्धि-ज्ञान आदि पर्याय है।[४] अन्नंभट्ट प्रभृति नैयायिक 'यह घड़ा है' इस व्यवसायात्मक ज्ञान के बाद 'मैं घड़े को जानता हूँ' इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान को बुद्धि का लक्षण मानते हैं।[५] यह बुद्धि विषयों की अनन्ता के कारण अनन्त प्रकार की होती है। मुख्यतः यह दो प्रकार की होती है १. विद्या, २. और अविद्या।[६] इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं। अन्नंभट्ट ने प्रथम - स्मृति और अनुभव दो भेद करके अवान्तर प्रभेदों को दिखाया है। इसके प्रभेदों को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है -

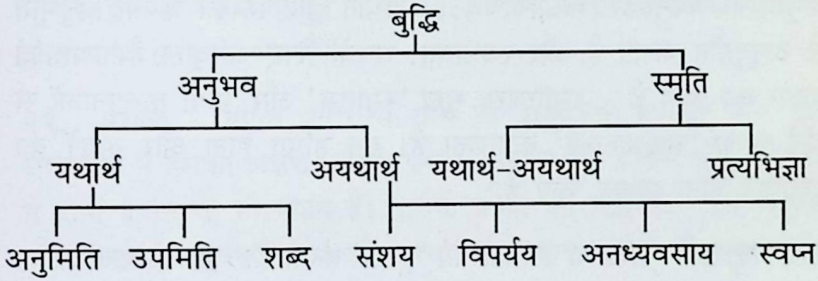

१. शब्दार्थाभेदवादिना हि वैयाकरणानामेषः संश्लेष उपपत्तिमान् समयोप्ययमनुपपन्न एव स हि पुरुष-कृतः सङ्केतो न च पुरुषेच्छया वस्तु नियमोऽवकल्पते तदिच्छाया अव्याहत-प्रसरत्वात् .... तस्मात्समयपक्षस्यातिदोर्वल्यादकृत्रिम एव शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति। न्या०मं०, पृ० २२१-२२

२. प्र०पा०भा०, पृ० २३६, त०भा०, पृ० २०८

३. त०भा०, पृ० २०७ से ९ तक

४. न्या०सू० १.१.१५, बुद्धिरूपलब्धिज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः। प्र०पा०भा०, पृ० १३६

५. जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वं लक्षणम्। त०सं०दी०, पृ० १०१

६. प्र०पा०भा०, पृ० १३६-३७

प्रभाकर के मत में बुद्धि

बुद्धि अथवा ज्ञान के विषय में गुरुमत की अपनी विशिष्ट मान्यता है - इसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान यथार्थ है।[१] यदि किसी वस्तु के ज्ञान और व्यवहार में अन्तर है तो वह हमारी स्मृति की कमी के कारण ज्ञानाभाव अथवा विवेकाग्रह मात्र के जिसे 'अख्याति' भी कहते हैं।[२] प्राभाकर-वादी ज्ञाता अथवा प्रकारता से पृथक् हटकर ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानते हैं।[३] इस प्रकार ज्ञान सम्बन्धी परिचर्चा में प्राभाकर की मान्यताएँ शिरमोर है तथा अकाट्य है। ज्ञान सम्बन्धी विवेचन- प्रथम अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है।

१७. सुख - सुख बुद्धि का कार्य होने से बुद्धि के बाद सुख का क्रम आता है। प्रशस्तपाद ने 'अनुग्रह लक्षणं सुखम्'[४] इसका लक्षण किया है। न्यायकन्दलीकार इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः। अनुग्रहलक्षणमनुग्रहस्वभावामित्यर्थः - अर्थात् सुख सबको अपनी अनुभूति से अनुगृहीत करता है और स्वभावतः सबके लिए अनुकूल है।[५] यह दो प्रकार का होता है - स्मृतिजन्य सुख 'स्मृतिज' और भावी कल्पनाओं से होने वाला 'सङ्कल्पज' कहलाता है। मन हर्षित होना और अङ्गों का पुलकित होना इसका फल है।[६]

१८. दुःख - कष्ट या उपघात को 'दुःख' कहते हैं।[७] यह उपघात आत्मा और मन के संयोग से अथर्मादि के द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से पैदा होता है। यह अतीत के चोर-अग्निदाह आदि के स्मरण से 'स्मृतिज' और भावी

---

१. यथार्थसर्वमेवेह विज्ञानमिति .....। प्र०पं०, पृ० ४३, प्र०वि०, पृ० १६, सर्व ज्ञानं यथार्थम्। तं०र०, पृ० २

२. न हि ज्ञानं बाध्यम्। तस्य यथार्थत्वात् प्र०पं०, पृ० नय विवेक, पृ० ९०

३. प्र०पं०, पृ० १७३, तं०र०

४. प्र०प०भा०, पृ० २११

५. न्याय०क०, पृ० ६३१ (प्र०पा०भा०)

६. प्र०पा०भा०, पृ० २११

७. उपघात लक्षणं दुःखम्। प्र०पा०भा०, पृ० २१३

दु:ख आशंकाओं से 'सङ्कल्पज' कहलाता है।[१] दु:ख का अभाव ही सुख है - नैयायिकों के इस विचार का खण्डन करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य पर न्यायकन्दली टीका के रचयिता श्रीधरभट्ट लिखते हैं कि[२] - ऐसा मानने से - एक तो सबको आनन्द का अनुभव विरुद्ध होने लगेगा दूसरी बात यह है कि अहित को छोड़कर हित को पाने की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होगी अत: दु:ख उपघात का नाम है और सुख इससे भिन्न है।

१९. इच्छा - अपने लिए अथवा दूसरे के लिए किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा की 'इच्छा' कहते हैं। यह इच्छा - प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु है। काम-अभिलाषा आदि इच्छा के ही भेद है।

२०. द्वेष - जिससे मनुष्य अपने को जलता हुआ सा समझता है वह 'द्वेष' है।[३] पहले तो द्वेष से स्मृति बनती है। जिससे द्वेष होता वह व्यक्ति बार-बार स्मरण होता रहता है।[४] इस प्रकार दु:ख या दु:ख की स्मृति से - यह द्वेष उत्पन्न होता है।[५] प्रयत्नस्मृति आदि का यह कारण है। क्रोध, द्रोह आदि इसी के भेद हैं।[६]

२१. प्रयत्न - प्रयत्न शरीर में कर्म के समुद्भव का हेतु है।[७] तर्क संग्रहकार ने इसका लक्षण 'कृति: प्रयत्न:' किया है।[८] संरम्भ और उत्साह- ये दोनों प्रयत्न के ही पर्याय हैं। यह दो प्रकार का होता है - जीवनपूर्वक और इच्छा द्वेष पूर्वक।[९] धर्म और अधर्म से उत्पन्न आत्मा और मन संयोग

१. प्र०पा०भा०, पृ० २१३
२. ये तु दु:खाभावमेव सुखमाहुस्तेषामानन्दात्मनानुभव विरोध:, हितमाप्स्यामि,अहितं हास्यामीति प्रवृत्तिर्द्वैविध्यानुपपत्तिश्च। न्या०क० (प्र०पा०भा०), पृ० ६३३
३. प्रज्वलनात्मको द्वेष:। प्र०पा०भा०, पृ० २१५
४. स्मृतिरपि द्वेषादुपजायते, यो यं द्वेष्टि स तं सततं स्मरति। न्या०क० (प्र०पा०भा०), पृ० ६३१
५. स चात्ममनसो संयोगाद् दु:खापेक्षाद् स्मृत्यपेक्षाद् वोपपद्यते। प्र०पा०भा०, पृ० २१५
६. वही, पृ० २१५, क्रोधो द्वेष:। त०सं०, पृ० ७६
७. प्रयत्नस्तु शरीरादौ हेतु: कर्म-समुद्भवे। मा०मे०, पृ० २४१
८. प्रयत्नत्वजातिमान् प्रयत्न:। बा०बो० (त०सं०, पृ० ७६)
९. प्र०पा०भा०, पृ० २१६

ही जीवन है - इससे उत्पत्ति होने के कारण इसे 'जीवनपूर्वक' कहते हैं।[१] सप्तपदार्थीकार ने इसे तीन प्रकार का माना है।[२] किसी कार्य के प्रवृत्ति और निर्वृत्ति रूप चेष्टा को इच्छाद्वेषपूर्वक 'प्रयत्न' कहते हैं।[३]

२२. धर्म-अधर्म - तन्त्ररहस्यकार ने केवल धर्म शब्द का ही उल्लेख किया है।[४] इस धर्म शब्द से 'धर्म-अधर्म' दोनों का संग्रहण है।[५] ये दोनों आत्मा के गुण हैं यज्ञादि क्रियाओं के नहीं। धर्म मोक्ष की ओर ले जाता है[६] और अधर्म नरक में डालता है।[७] प्राभाकरों ने यागादिकर्म और कर्मों के फल की प्राप्ति तक के अन्तराल को 'अपूर्व' कहा है। यह अपूर्व वह कड़ी है, जो कर्म और उसके फल को जोड़े रखती है अन्यथा धर्म आदि कार्यों के प्रति लोगों की आस्था ही न रहे। प्राभाकरों के इस **'अपूर्व'** का प्रयोग धर्म शब्द के लिए ही हुआ है।

कर्मस्वरूप प्रतिपादन

१. कर्म की परिभाषा - नारायण भट्ट[८] ने कर्म का लक्षण इस प्रकार बताया है - जोकि वै०सू०[९] कार से मिलता सा है - 'द्रव्याश्रय्यगुणवान्संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्' अर्थात् एकद्रव्याश्रित रहना, किसी गुण का आधार न होना तथा संयोग और विभाग का परम कारण होना - यह कर्म का लक्षण है।

---

१. धर्माधर्मापेक्ष आत्ममनसोः संयोगजीवनम्; तस्मादस्योत्पत्तिरित्यर्थः। प्र०पा०भा०, न्यायकन्दली, पृ० ६३८-३९

२. प्रयत्नोऽपि विहितनिषिद्धोदासीन-विषयः .....। स०प०, पृ० १४, वी०एस० घाटे की टिप्पणी में देखें।

३. हितसाधनोपादानेषु प्रयत्न-इच्छापूर्वकः दुःख साधन-परित्यागे प्रयत्नो द्वेषपूर्वकः। न्या०क०, पृ० ६३९

४. गुणास्तु ..... प्रयत्न धर्माः। त०र०, पृ० १८

५. आत्मगुणभूतो धर्माधर्मो० .....। न्या०सि० (प्र०पं०), पृ० १५९

६. कर्तुः प्रियहित मोक्षहेतुः० ..... यतोऽभ्युदयनिश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः। वै०सू०

७. न्या०सि०, पृ० १५९

८. प्र०पं० (न्या०सि०), पृ० ८१

९. वै०सू० १.१.१७

२. **कुमारिल भट्ट के मत में कर्म** - नारायण भट्ट ने कर्म को प्रत्यक्ष और चलनात्मक कहा है।[१] - इनके अनुसार यदि कर्म का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तब कर्म ही सिद्ध नहीं होगा।[२] पार्थसारथि मिश्र ने कर्म के प्रत्यक्ष के विषय में स्पष्ट कहते हैं कि - भूमि पर चलते हुए सर्प को देखकर कर्म की प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाती है - तदनुसार 'चलति' क्रिया का कर्म सर्प ही है - भूमि नहीं। सर्प में चलन नामक तत्त्व ही कर्म है जिसके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं।[३]

३. **ग्रन्थकार रामानुजाचार्य के अनुसार कर्म** - रामानुजाचार्य ने कर्म को प्राभाकर परम्परानुसार नित्य अनुमेय माना है।[४] किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति की क्रियाशीलता नहीं दीखती अपितु उसका एक स्थान से दूसरे स्थान पर होते हुए विभाग और संयोग दिखाई पड़ते हैं - इन्हीं से कर्म का अनुमान होता है। रामानुजाचार्य ने शाबर भाष्य का निर्देश करते हुए कर्म के अनुमान से सिद्ध होने की पुष्टि की है।[५] जैसे - देवदत्त को एक स्थान से दूसरे स्थान पर देखने से कर्म (क्रिया) का अथवा गति का अनुमान कर लिया जाता है - इसी प्रकार सूर्य के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है। रामानुजाचार्य के अनुसार एक दिशा से दूसरी दिशा में सूर्य को देखकर (पृथिवी की) गति का अनुमान हो जाता है।[६]

४. **कर्म के सम्बन्ध में ब्राह्मण वाक्य** - कर्म के सम्बन्ध में ब्राह्मण वाक्य अनेक प्रकार के हैं। कर्म के लिए विधान करने वाले वाक्य

---

१. ..... प्रत्यक्षं चलनात्मकम्। मा०मे०, पृ० २६१, प्रेमयम् श्लो० ४६

२. किञ्च, यदि न कर्मणः प्रत्यक्षत्वम्, तर्हि कर्मैव न स्यात्। असमवयिकारणमात्रापेक्षौ हि संयोग-विभागौ। तत्र असमवायिकारणं प्रयत्नवदात्मसंयोग एवास्तु, किं कर्मकल्पनया? मा०मे०, पृ० २६६

३. दृश्यते हि सर्पति सर्पे भूमेः सर्पस्य च द्वयोर्मिथः संयोगविभागाविशेषेऽपि सर्पमेव चलतीति बुद्धिरालम्बते, न भूमिम्। अतोऽस्या बुद्धेरालम्बनमस्ति। सर्पे चलनं नाम तत्वम्। ..... न चेयमानुमानिकी संभवतीत्युक्तम्। शा०दी०, पृ० १३३

४. कर्म तु नित्यानुमेयम्। संयोगविभागपरम्परया हि गतिरनुमीयते। तं०र०, पृ० १८

५. देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिमवलोक्य आदित्येऽपि गतिस्मरणम्। शा०भा०, पृ०

६. देशाद्देशान्तर-प्राप्त्या सूर्यगत्यनुमानं भाष्ये प्रपञ्चितम्। तं०र०, पृ० १८

'कर्मोत्पत्तिवाक्य' कहलाते हैं - यथा 'अग्नि होत्रं जुहोति'। कर्म के अंग के रूप में किसी द्रव्य का देवता को बताने वाले वाक्य को 'गुण वाक्य' कहते हैं - यथा - 'दध्ना जुहुयात्'। उक्त दोनों वाक्यों में होम 'उद्देश्य' है और दधि विधेय है अथवा दूसरे शब्दों में होम में 'प्राधान्य' है और दधि में 'गुणत्व' है।[१]

५. **ग्रन्थकार के अनुसार कर्मविधेय भी है** - रामानुजाचार्य के अनुसार यही कर्म स्वतः सिद्ध होने के कारण विधेय भी है।[२] यहाँ प्रसंगवश 'उद्देश्य' और 'विधेय' कर्म की दृष्टि से इन दोनों शब्दों पर भी विचार कर लेना उचित होगा। जो प्रमाणान्तर से ज्ञात होकर विधेय में समन्वित हो उसे उद्देश्य कहते हैं - जैसे - 'होम'। यह 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से ज्ञात होकर 'दधि ' रूप कर्म में अन्वित है। जो प्रमाणान्तर से ज्ञात न हो उसे 'विधेय' कहते हैं जैसे 'दधि'। यह स्वयंसिद्ध है।[३]

ग्रन्थकार रामानुजाचार्य लिखते हैं[४] कि यह कर्म सिद्ध स्वभाव युक्त द्रव्य और गुणों से युक्त होने से विधेय है जैसे - स्वयं 'दही से होम करता है।' यहाँ 'दही' किसी दूसरे प्रमाण से प्राप्त (ज्ञात) न होने से 'विधेय' है और होम का साधन होने से 'गुण' भी है और दूसरे शब्दों में दही का विधान होम को लक्ष्य करके उसके अंग के रूप में किया गया है। इसी प्रकार 'अरुणया क्रीणाति' इत्यादि वाक्यों के विषय में भी जाना जा सकता है।[५]

सामान्य (जाति) - मीमांसा परम्परा में जाति के लिए आकृति शब्द का प्रयोग किया है।[६] प्राभाकर परम्परा में जाति को सामान्य ही कहा गया है।[७]

---

१. मी०प०, पृ० ५३-५४

२. तं०र०, पृ० १८

३. मी०प०, पृ० ५४

४. तं०र०, पृ० १८

५. इदमेव कर्म स्वतस्साध्यतया साक्षाद्विधेयम्। सिद्धस्वभावयोस्तु द्रव्यगुण योस्तदुपरागात्। स्वतः 'दध्ना जुहोति' इति होमोपरक्त तयैव दधि विधीयते । तथा 'अरुणया क्रीणाति इत्यारूण्यमपि।' तं०र०, पृ० १८

६. जातिमेवाकृतिं प्राहुव्यक्तिराक्रियते यया। श्लो०वा० आकृतिवाद, श्लो० ३

७. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्य' .... पदार्थाः। तं०र०, पृ० १७

जाति का लक्षण - प्रकरणपञ्चिका में नित्येकत्वेसति 'निरतिशयेनानेकत्र वर्तमानं सामान्यम्'[१] अर्थात् जो एक हो, नित्य हो और निरतिशय रूप से (समवायसम्बन्ध से) अनेकों में रहती हो उसे **'जाति'** कहते हैं - ऐसा कहा गया है - यथा गोत्व। गोत्व एक ही है और अनेक गो व्यक्तियों में अनुस्यूत रहता है। यह नित्य भी है - अनेक गायें जन्म लेती रहेंगी और मरती रहेंगी - लेकिन गोत्व ज्यों का त्यों रहेगा।

रामानुजाचार्य के मत में जाति की परिभाषा

रामानुजाचार्य ने जाति के विषय में लिखते हुए कहा है - 'अनुवृत्ता हि जातिः'[२] अर्थात् जिससे अनुवृत्त प्रतीति अथवा एकाकार प्रतीति हो उसे **'जाति'** कहते हैं। यह जाति अनेक गो व्यक्तियों के विषय में इयं गौ, इयं गौ - इत्याकारक समानप्रतीति का हेतु है।[३] एकाकार प्रतीति एक जाति का धर्म है।[४] इस एकाकार प्रतीति के लिए ग्रन्थकार ने 'अनुवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। अनुवृत्ति का शाब्दिक अर्थ यह है - पीछे से चली आ रही गति। इसी अर्थ का द्योतक हिन्दी का अनुवर्ती शब्द है। पूर्वाकारावमर्श भी इसी के आधार पर होता है अतः यह अनुवृत्ति, जाति का प्राणभूत है।

अनुवृत्ति की अनुभूति - एवं जाति प्रत्यभिज्ञा

प्रथम पिण्ड के ज्ञान में इसकी प्रतीति नहीं होती क्योंकि उस समय अन्य पिण्ड के ज्ञान का अभाव रहता है - परन्तु जब द्वितीय आदि पिण्डों का ग्रहण होता है - तब उसकी प्रतीति होती है। जब मनुष्य दो पिण्डों के विषय में भिन्नता का निश्चय कर लेता है अर्थात् यहाँ वाला घट वहाँ वाला नहीं है और वहाँ वाला यहाँ वाला नहीं हो सकता - ऐसे अभेद की अनुपपत्ति होने पर ही जाति की कल्पना की जाती है।[५]

---

१. प्र०पं०, पृ० ८१, द्र० न्या०सि०मु०

२. तं०र०, पृ० १८

३. अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतुः सामान्यम्। त०मा०, पृ० २१३

४. अनुवृत्तिश्च तद्धर्मः। तं०र०, पृ० १८

५. अतः प्रथम-पिण्ड-ग्रहण-समये पिण्डान्तरानुसन्धानशून्यतयातदनुवृत्तिर्न प्रतीयते। द्वितीयादिग्रहणेषु तु तत्सम्भवात् सा प्रतीयते। यत्र हि भेदमध्यवस्यत एव पुंसोऽभेदज्ञानं तत्रानुपपत्या जातिः कल्प्यते। तं०र०, पृ० १८

ग्रन्थकार के अनुसार जाति की प्रत्यभिज्ञा होती है[१] - अर्थात् जो घटत्व मैंने तत्स्थानस्थ घट में देखा था उसी घटत्व को मैं एतत्स्थानस्थ घट में भी देख रहा हूँ। उदाहरणस्वरूप जो एक बत्ती में जो बहुत सी ज्वालाएँ निकलती रहती हैं उस बत्ती (दीपक) को बुझाने पर पुनः जब जला दिया जाता है तब उसे देखकर 'यह वही ज्वालात्व है' - यहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती[२] क्योंकि वे ज्वालाएँ क्षण ध्वंसिनी हैं - जैसे शुक्ति और रजत में भेद ज्ञान का अभाव रहता है उसी प्रकार उन ज्वालाओं में भी व्यक्ति भेद का अभाव रहता है और जब व्यक्ति का ही निश्चय नहीं हो पाता फिर जाति की प्रत्यभिज्ञा किस में की जा सकेगी?[३]

कुमारिलभट्ट का भेदाभेद - सिद्धान्त

जाति और जातिमान - इन दोनों में जाति को जातिमान (व्यक्ति) से भिन्न माना जाये अथवा अभिन्न? इस प्रश्न का उत्तर कुमारिलभट्ट के अनुसार उभयात्मक है अर्थात् वह जाति और व्यक्ति में भेद भी मानता है और अभेद भी। ग्रन्थ में प्रयुक्त 'केचित्'[४], का प्रयोग कुमारिल और उसके अनुयायियों की ओर है। जाति-व्यक्ति का भेदाभेद सम्बन्ध उन्हीं के मत में है।

नारायण भट्ट के मत में 'अयं गौ' में अयम् से व्यक्ति और 'गौ' से जाति का ग्रहण होता है - अब यदि जाति और व्यक्ति में भेद होता है तो 'इदंगोत्वे' ऐसी अनुभूति होनी चाहिए थी परन्तु ऐसी होती नहीं।[५] इसी प्रकार यदि दोनों अभिन्न हैं तब 'हस्तः', 'करः' आदि के समान इदं और गोत्व में पर्यायत्व मानना पड़ेगा। अतः इदं और गौ पद में अपर्यायत्व और समानाधिकरण्य के कारण जाति और व्यक्ति में भेदाभेद मानते हैं।

---

१. जाति-प्रत्यभिज्ञा च तत्रैव स्यात्। वही, पृ० १८

२. अतः एवैकवर्तिकावर्तिनीषु क्षणविध्वंसिनीषु बह्वीषु ज्वालासु ज्वालात्वं न प्रत्यभिज्ञागोचरम्। तं०र०, पृ० १८

३. तत्र शुक्तिरजतवद्भेदाग्रहेण व्यक्ति-भेदानुपलम्भात्। तं०र०, पृ० १८

४. केचित्तु जातिव्यक्तिभ्यो भिन्नामभिन्नां चोररीचक्रुः। वही, पृ० १८

५. कथमेकत्रसमुच्चयः? दर्शनबलादिति ब्रूमः। ..... तस्मादिदंगोपदयोरपर्यायत्वे सति सामानाधिकरण्यदर्शनाद् भेदाभेदसमुच्चयमेव वयं जातिजातिमतोराश्रयामते। मा०मे०, पृ० २२३

कुमारिल मत खण्डन

रामानुजाचार्य के अनुसार जाति और व्यक्ति में भेदाभेद उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है।[१] प्रभाकर विजयकार नन्दीश्वर इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दो विरुद्ध चीज़ें एक स्थान पर नहीं टिक सकतीं जिस जाति और व्यक्ति में भेद - प्रतीत होता हो और उसी में अभेद दीखने लगे - यह तो उचित कथन नहीं है क्योंकि ऐसा अभेदक आकार देखने में नहीं आता।[२]

रामानुजाचार्य के अनुसार जाति और व्यक्ति में भेद

जिस वस्तु को देखने से भिन्नता का ज्ञान होता है वह वस्तु भिन्न ही होती है और जिस वस्तु के देखने से अभिन्नता की बुद्धि बनती है वह अभिन्न ही होगी - इस विषय में लौकिक भी प्रमाण रूप है अर्थात् सभी को ऐसा ही अनुभूत होता है। तो फिर जाति और व्यक्ति में जो भेदाभेद है अर्थात् जाति व्यक्ति से भिन्न है और अभिन्न भी है इसी प्रकार व्यक्ति जाति से भिन्न है और अभिन्न भी है - यह तो द्विकोटिक आभास मात्र है[३] ऐसा देखा नहीं जाता। अतः रामानुजाचार्य ने स्पष्ट कहा है 'तस्माद् भेद एव तयोः'[४] अर्थात् जाति और व्यक्ति में भेद है।[५]

रामानुजाचार्य ने प्रभाकर मत के प्रतिष्ठित आचार्य शालिकनाथ मिश्र[६] का अनुगमन करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जाति और

---

१. तदनुपपन्नं, विरोधात्। तं०र०, पृ० १८

२. ययोर्जातिव्यक्त्योर्भेदः प्रतीतः तयोरेवाभेदः प्रतीयत इति दुर्घट वचः। अनुवृत्ताकार-स्वभावा जातिः प्रतीता, व्यावृताकारस्वभावो च व्यक्तिः, अतः आकारद्वयव्यतिरेकेण तयोरभेदकं नामाकारान्तरं न पश्यामः। प्र०वि०, पृ० १०१

३. भिन्न बुद्धिबोध्यं हि वस्तु-भिन्नम्। अभिन्न बुद्धिबोध्यमाभिन्नमिति- लौकिकाः। तत्रवस्तुद्वयप्रतीतिसमये जातिर्व्यक्तितो भिन्नाभिन्नवेषेण व्यक्तिर्वा जातिस्तथा प्रतीयते। ततो द्विरवभासोऽयं स्यात्। नैवं दृश्यते। तं०र०, पृ० १८ विशेष प्र०वि०, पृ० १०१

४. तं०र, पृ० १८

५. विशेष - भेदवादः पुनरस्माकमपि सम्मत एव। प्र०पं०, पृ० ९३

६. प्र०पं०, पृ० ९४

व्यक्ति में भेद रहते हुए भी 'इस कुण्डे में बेर है' की तरह 'इस गाय में गोत्व है', ऐसा 'इह-प्रत्यय' नहीं हो सकता। क्योंकि कोई भी रूप (धर्म) रूपी (धर्मी) के बिना प्रतीत नहीं होता। अतः समान इन्द्रिय से ग्रहण होने के कारण व्यक्ति-बोध में ही जाति-बोध भी अनुस्यूत रहता है[१] अर्थात् व्यक्ति वाच्य है और जाति गम्यमान है। कर्म में 'इह-प्रत्यय' सम्भव है क्योंकि वह अनुमेय है तथा उस कर्म (क्रिया) में - व्यक्ति की प्रतीति अत्यन्त अनुप्रवष्टि न होने से, धर्मधर्मी की तरह न घुली रहने से 'देवदत्त गमनम्' आदि 'इह प्रत्यय' हो जाता है।[२]

जाति के विषय में तन्त्ररहस्यकार[३] ने प्र०पं०[४] को उद्धृत करते हुए सिद्धान्त रूप से तीन बातें स्वीकार की है -

१. जाति अपने आश्रय से भिन्न है।
२. जाति का प्रत्यक्ष होता है।
३. जाति के लिए पूर्वाकारावमर्श अपेक्षित है।

यद्यपि जाति के स्व आश्रय से भिन्न होने के विषय में विचार किया जा चुका है तथापि जब तक इनके सम्बन्ध का भी वर्णन नहीं होगा तब तक यह विषय किञ्चित् अस्पष्ट ही रहेगा अतः अब जाति-व्यक्ति विषयक सम्बन्ध पर विचार किया जायेगा।

जाति व्यक्ति सम्बन्ध विचार

कुमारिलभट्ट के अनुसार इनमें तादात्म्य है अर्थात् जाति और व्यक्ति वस्तुतस्तु एक ही हैं भेद तो कथन मात्र के लिए है। इनकी भिन्नता

१. सत्यपि तस्मिन् 'इह कुण्डे बदरम् इतिवत्' 'इह गवि गोत्वमि'ति नेह प्रत्ययः। सर्वं हि रूपं रूपिणमन्तरेण न प्रतीयते। तेन समानेन्द्रिय-ग्राह्यतया जातिरपि व्यक्तिप्रतीत्यनुप्रवेशिनी। तं०र०, पृ० १९
२. कर्मणित्वनुमेये व्यक्तिप्रतीत्यनुप्रवेशाभावाद् भवत्येव 'इह' प्रत्ययः। वही, पृ० १९
३. तं०र०, पृ० १८
४. जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।
पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकर गुरोर्मता।। (प्र०पं० जाति निर्णयस्य, पृ० ६४)

दृष्टिकोण पर आधारित है जब व्यक्ति जाति को लक्ष्य करके देखता है तो जाति की प्रतीति होती है और जब व्यक्ति की ओर ध्यान करता है तो व्यक्ति-पक्ष ही उभरता हुआ दिखाई पड़ता है।

शास्त्रदीपिकाकार ने अवयव-अवयवी की दृष्टि से भी इन पर विचार किया है तदनुसार जातिव्यक्ति और अवयव अवयवी सम्बन्ध में अन्तर है। जाति तो प्रत्येक व्यक्ति में रहती है जैसे 'गोत्व' प्रत्येक गाय में रहता है लेकिन अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रहता है यथा - पट प्रतितन्तु में नहीं देखा जाता है।[१] अतः उसने अवयव और अवयवी का सम्बन्ध 'व्यासज्यवृत्ति' से माना है। अनेक व्यक्तियों में रहने वाले धर्म को 'व्यासज्यवृत्ति' कहते हैं।[२]

प्रभाकर एवं ग्रन्थकार रामानुजाचार्य के अनुसार जाति और व्यक्ति सम्बन्ध

रामानुजाचार्य जाति-व्यक्ति को समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। अवयव और अवयवी की दृष्टि से 'व्यक्ति' अवयव है और 'जाति' अवयवी है। वैचित्र्य यह है कि इन्होंने समवाय को न्या०वै० की तरह नित्य नहीं माना अपितु दोनों ही प्रकार का माना है[३] इसका विवेचन समवाय के प्रकरण में किया गया है।

जाति और व्यक्ति के प्रसंग में भी समवाय अनित्य है। यहाँ शंका यह होती है कि व्यक्ति के नष्ट होने पर क्या जाति भी लुप्त हो जाती है अथवा नष्ट हो जाती है? इसका समाधान करते हुए प्र०पं० कार लिखते हैं कि जाति का कुछ नहीं बिगड़ता केवल व्यक्ति से उसका समवाय सम्बन्ध हट जाता है। जब किसी पिण्ड का प्रादुर्भाव होता है तब उसका जाति के साथ समवाय सम्बन्ध भी उत्पन्न हो जाता है।[४]

१. सामान्यं प्रत्येकं वर्तते, अवयवी तु व्यासज्येत्येवं विशेषः। शा०दी०, पृ० २१०

२. प्र०पं०, पृ० ९१-९२

३. स च नित्ययोर्नित्यः। अनित्ययोर्नित्यानित्ययोश्चानित्यः। तं०र०, पृ० १९

४. विनष्टायामपि व्यक्तौ न जातिरन्यत्र याति, न च तत्रावतिष्ठते, न विनश्यति केवलं तद्व्यक्ति समवायस्तस्या निवर्तते तेन तस्यानुपलम्भनम्। यतएव तु पिण्डस्योदयः समवायिकारणात्, तत एव जाति समवायो पि तस्य उत्पद्यते। प्र०पं०, पृ० ६२

ग्रन्थकार के अनुसार जहाँ से कार्य निष्पन्न होता है वहीं पर यह समवाय सम्बन्ध भी उद्भूत हो जाता है।[१] इस प्रकार प्राभाकरों ने जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध 'समवाय' मानते हुए उसे अन्य दार्शनिकों से विलक्षण और औचित्य पूर्व ढंग से प्रस्तुत किया है तथा अवयवी की सत्ता को सत् घोषित किया है।[२]

रामानुजाचार्य के अनुसार जाति की प्रत्यक्ष सिद्धता

ग्रन्थकार ने जाति को प्रत्यक्ष माना है[३] अर्थात् दिखाई देने वाले द्रव्यों में ही जाति की सत्ता है।[४] प्राभाकरों के अनुसार बिना व्यक्ति के जाति का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। जब व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है तब जाति भी उसमें गम्यमान रहती है। व्यक्ति जाति की अभिव्यक्ति का मुख्य और अपरिहार्य आधार है। नैयायिकों का 'सर्वसर्वगत' होने का सिद्धान्त भी इस व्यक्ति पर ही आधारित है।

शास्त्रदीपिकाकार ने भी भाट्ट और नैयायिकों में - सामञ्जस्य स्थापित करते हुए जाति को व्यक्ति का ही आत्मा बताया है और व्यक्ति में ही इसे समवेत माना है।[५] स्वयं कुमारिल भट्ट ने पिण्डों में ही सामान्य के ग्रहण को स्वीकार किया है[६] - नारायण भट्ट कहते हैं कि वस्तुतस्तु जाति व्यक्तिगत ही है तथापि 'तत्र पक्षद्वयमपि वयं कक्षी कुर्मः' अर्थात् यदि सर्वगत भी हो तो भी अभिव्यक्ति तो व्यक्ति में ही होती है।[७] कुमारिल ने भी दूसरे पक्ष को दिखाया है।[८] परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार प्रत्यक्ष द्रव्यों के अतिरिक्त जाति की सत्ता ही नहीं है क्योंकि उसकी

१. यतः कार्यमुत्पद्यते तत एव तदुत्पत्तिरपि। तं०र०, पृ० १९
२. भा०द०शा० का इतिहास। पृ० ३७६-७७
३. प्रत्यक्षज्ञानगोचरो। तं०र०, पृ० १८ (प्र०पं० से उद्धृत, पृ० ६४ से)
४. जातिस्तु प्रत्यक्ष द्रव्यमात्रे वर्तते। तं०र०, पृ० १८
५. सर्वगतमपि सामान्यं व्यवतेरेवात्मा तत्समवेतं वा। शा०दी०, पृ० २०९
६. पिण्डेष्वेव च सामान्यं भान्तरा गृह्यते यतः। श्लो०वा० आकृतिवाद, श्लो० २५
७. जाति व्यक्तिगतानित्या ..... कुमारिलमते मता। मा०मे०, पृ० २१९-२०
८. यद्वासर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः। शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्ति दर्शनहेतुका। श्लो०वा० आकृतिवाद, श्लो० २६

उपलब्धि नहीं होती अगर होती तो प्रतीति होती[१], इससे नैयायिकों की सत्ता जाति और जाति के इतर भेद प्रभेद निराकृत हो जाते हैं।

जाति का ग्रहण : संयुक्त समवाय

जब चक्षु आदि का घट आदि से संयोग होता है तब उस घट में घटत्व जाति भी समवेत रहती है अत: घट व्यक्ति के साथ ही घटत्व का भी संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ग्रहण हो जाता है।[२]

तन्त्ररहस्यकार के अनुसार जाति की प्रतीति पूर्वाकारावमर्श से

ग्रन्थकार ने जाति की प्रतीति में पूर्वाकारावमर्श को अपेक्षित माना है।[३] पूर्वाकारावमर्श का अर्थ है पहले देखे गये आकारों का परामर्श। यह जाति प्रत्यक्ष दीखने वाले घट-पट आदि द्रव्यों (जोकि जाति के आश्रय हैं) की ग्राहक इन्द्रियों के द्वारा संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण की जाती हुई, विविध पिण्डों में रहती हुई भी एकाकार रूपा तथा उन उन व्यक्तियों (पिण्डों) से अत्यन्त विलक्षण प्रथम पिण्ड के ग्रहण करने पर स्वरूप मात्र से प्रतीत होती हुई और द्वितीय आदि पिण्डों के ग्रहण में - पूर्व दृष्ट आकारों के परामर्श से अर्थात् (यह घट गत घटत्व) भी वैसा ही है जैसा हमने वहाँ देखा था - प्रत्यभिज्ञात होती हुई प्रकाशित होती है।[४] जाति की इस प्रतीति को पुष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने शालिकनाथ मिश्र को भी उद्धृत किया है।[५]

जाति-उपाधि-विवेचन

प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वरूप या धर्म होता है कुछ धर्म विशिष्ट होते हैं और कुछ साधारण होते हैं। चिन्तन प्रस्तुत करते हुए

१. नान्यत्र अनुपलम्भात्। तं०र०, पृ० १८
२. संयुक्तसमवायाद् गृह्यमाणा। वही, पृ० १८
३. वही, पृ० १८
४. पूर्वाकारावमर्शेन प्रत्यभिज्ञायमाना। तं०र०, पृ० १८
५. जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षानगोचरा।
पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकर-गुरोर्मता।।

अर्थ-वैज्ञानिक श्री हरिसिंह सेंगर ने इन धर्मों को 'उपाधि' कहा है तदनुसार 'धर्ममात्र को उपाधि कहते हैं जबकि विशिष्ट उपाधि को ही जाति कहते हैं।'[१] भारतीय न्यासशास्त्रकार ने पदार्थ से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले धर्म को जाति - यथा कर्मत्वादि तथा परम्परया सम्बन्ध को उपाधि कहा है[२]- यथा दण्डित्व। यहाँ दण्ड संयोग हटते ही दण्डित्व धर्म भी हट जायेगा। ये उपाधियाँ अनेक प्रकार की हैं।

रामानुजाचार्य ने प्रयोगानुवृत्ति को भी उपाधि माना है जैसे पाचनक्रिया रूप उपाधि को लेकर 'पाचकः पाचकः' - ऐसी प्रयोगानुवृत्ति होती है।[३] वह जाति नहीं उपाधि ही है। प्रभाकर विजयकार के अनुसार यह क्रिया और गुणादि के आधार पर होती है।[४] ग्रन्थकार ने 'प्रमाण-सम्बन्ध योग्यत्व' को ही उपाधि कहा है।[५] प्रमाणसम्बन्ध योग्यता का अर्थ है 'स्वरूप सत्ता' अर्थात् सत् शब्द का वाच्यभितिक्रियोपलक्षित 'स्वरूप' ही है। यत्स्वरूप प्रमाण से परिछिन्न अथवा परिमित होता है अतः नित्यमहासामान्य से इसका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।[६]

सत्तासामान्य का खण्डन

अब प्रसंगवश ग्रन्थकार 'केचित्' शब्द से 'नैयायिकों' की ओर संकेत करते हुए उनके पक्ष को दिखाते हैं- वे (नैयायिक) द्रव्य, गुण और कर्म में सत्, सत् ऐसी प्रयोगानुवृत्ति होने से सत्ता-सामान्य को मानते हैं।[७] प्र०पं० कार शालिकनाथ मिश्र ने इसका निराकरण किया है।[८]

१. भा०अ०वि०
२. भा०न्या०शा० - एक अध्ययन, पृ० २८
३. प्रयोगनुवृत्तिस्तु पाचकादिशब्दवत् केवलमुपाधिनिबन्धना। तं०र०, पृ० १९
४. क्वचिद्गुणयोगः शुक्लादि शब्देषु क्वचिद् क्रियायोगः पाचकादि शब्देषु। प्र०वि०, पृ० ६३
५. उपाधिश्च प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्वम्। तै०र०, पृ० १९
६. स्वरूपसत्तैव प्रमाण सम्बन्धयोग्यता, यस्य हि स्वरूपमस्ति तत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते। त्रैकालमपि स्वरूपस्येव युक्तं न च महासामान्यस्य, नित्यत्वात्। प्र०पं०, पृ० ९९
७. तं०र०, पृ० १९
८. तदिदमपरामृष्टजातितत्वानामुपर्युपरि जल्पितम्।
पूर्वरूपानुकारिणी यदि धीरुदीयते ततोऽभ्युपेयेतैव जातिः।। प्र०पं०, पृ० ९७

ग्रन्थकार का इस विषय में स्पष्ट विचार यह है कि 'तदसत्' अर्थात् सत्ता सामान्य नहीं है। प्रभाकर दर्शन का जाति के विषय में यह दृढ़ सिद्धान्त है कि इसमें पूर्वाकारविमर्श अवश्य होता है - जबकि सर्षप - महीधर आदि रूपों में अथवा कर्मों में निरन्तर देखने पर भी पूर्वाकारानुकारिणी सत्ता-बुद्धि नहीं बनती। सत्-सत् - इस प्रकार की प्रयोगानुवृत्ति तो औपाधिक निबन्धन है। नैयायिक जो अन्तिम तीन (सामान्य विशेष समवाय) पदार्थों में इस सत् को औपाधिक मानते हैं इस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं - 'सर्वत्र तथैव स्यात्' अर्थात् सभी पदार्थों में यह सत्ता का सम्बन्ध औपाधिक ही है। इसी आधार पर द्रव्यत्व पृथिवीत्व गुणत्व शब्दत्व कर्मत्व आदि को जाति मानना भी निराकृत हो जाता है।[१] क्योंकि इनमें अनुगताकार का परिस्फुरण नहीं है और प्रयोगानुवृत्ति तो औपाधिक ही है। ये उपाधियाँ प्रयोगानुवृत्ति की ही उपलक्षक हैं।[२] यहाँ पर ग्रन्थकार पूर्वपक्षियों से चुटकी लेते हुए कहते हैं कि इन उपाधियों को मूल से जाति समझ कर स्वीकार तो आप भी (पूर्वपक्षी) करते हैं।[३]

नन्दीश्वर ने भी सत्ता सामान्य का निराकरण करते हुए स्वरूप-सामान्य को ही माना है क्योंकि सर्वत्र प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई स्वरूप होता है।[४] अगर स्वरूपहीन सत्ता नामक तत्त्व को माना जायेगा तब तो शशविषाणादि में भी उस सत्ता का समवाय मानना पड़ेगा अतः अनुवृत्ति प्रत्यय का अभाव होने से सत्ता सामान्य नहीं है - यह स्थिर हो गया।[५] यदि यह कहा जाये कि द्रव्यत्वादि सत्ता सामान्य गोत्व के समान शीघ्र ही सर्वसाधारण रूप से प्रकट नहीं होती अपितु शास्त्र के माध्यम से शिक्षित बुद्धि वालों को अभिव्यक्ति की गवेषणा से स्फुरित होती है - तो यह भी समस्त मनुष्यों के मन को छिपाना है जो एक ही वस्तु ज्ञातृ-व्यवस्था के आधार पर प्रतीत

१. तं०र०, पृ० १९, प्र०पं०, पृ० ९७ (सत्ता जाति निराकरणम्)
२. प्रयोगानुवृत्तिस्त्वौपाधिकी। उपाधयश्च तत्तल्लक्षणान्येव। तं०र०, पृ० १९
३. तानि च जाति व्यञ्जकतया त्वयाऽप्यङ्गीकृतानि। वही, पृ० १९
४. सत्तासामान्यस्य स्वरूपसत्वमेव, अतः सर्वत्र स्वरूपसत्वमेवास्तु, किमर्घजरतीयेन? 'नन्दीश्वरः'
५. अन्यथा शशविषाणादिष्वपि सत्तासमवायप्रसङ्गात् - अतोऽनुवृत्तिप्रत्ययाभावादेव सत्तासामान्यं नास्तीति स्थितम्। प्र०वि०, पृ० ६५

होती है ऐसे तो फिर सास्नादिमान् गो में भी गोत्व ज्ञान का इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के बिना अग्रहण होगा।[१]

ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं

ग्रन्थकार रामानुजाचार्य ने जिस न्याय से सत्ता सामान्य का खण्डन किया है उसी न्याय (तर्क) से ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वादि को भी जाति नहीं माना।[२] प्रकरण पञ्चिकाकार शालिकनाथ मिश्र ने ब्राह्मणत्वादि में जाति का निराकरण करके उपाधि होने का प्रतिपादन किया है क्योंकि ब्राह्मणादि में या विभिन्न स्त्री पुरुषों में एकाकार की बुद्धि कभी बनती ही नहीं।[३] यद्यपि भाट्ट मतानुयायी मीमांसकों ने ब्राह्मणत्व जाति को सिद्ध किया है[४] परन्तु प्राभाकरों ने इसका सर्वत्र खण्डन किया है।[५] अब प्रश्न यह उठता है कि अगर ब्राह्मण कुलों के वर्गीकरण के लिए ब्राह्मणत्व को ही नहीं माना जायेगा तब तो वर्ण व्यवस्था में प्रवृत्त करने वाले शास्त्र भी नहीं होने चाहिए? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं ऐसी बात नहीं[६] – इस अनादि संसार में प्राचीन काल से ही जन्य जनक भाव से उत्पन्न होते चले आ रहे तथा लौकिक प्रमाणों से सिद्ध कुछ स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जो ब्राह्मण आदि शब्दों के वाच्य हैं उस परम्परा में उत्पन्न होने वाली सन्तति विशेष को ही ब्राह्मणत्वादि से युक्त कहा जाता है। उन्हीं लोगों के लिए उस प्रकार का

---

१. ननु गोत्ववत्सत्ताद्रव्यत्वादीनि झटिति सर्वाविशेषेण न परिस्फुरन्ति। किन्तु शास्त्रमुखेन शिक्षितधियां व्यञ्जकानुसन्धाने सतीति चेत्, हन्त सकलजनमनो निह्नवः यदेकमेव वस्तु प्रतिपतृव्यवस्थया प्रतीयत इति। तं०र०, पृ० १९

२. अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिकमपि न निर्वहति। तं०र०, पृ० १९

३. न हि नानास्त्रीपुरुषव्यक्तिषु पुरुषत्वादर्थान्तरभूतमेकमाकारमात्मसात्कुर्वन्ती मतिराविर्भवति। नहि क्षत्रियादिभ्यो व्यावर्तमानं सकलब्राह्मणेष्वनुवर्तमान- मेकमाकारमतिचिरमनुसन्दधतोऽपि बुध्यन्ते। प्र०पं०, पृ० १०१

४. मा०मे०, पृ० २२६

५. प्र०पं० 'ब्राह्मणत्व जातिनिराकरण-प्रकरणे'। पृ० १००-१०३ तक

६. मैवम् – सन्ति चानादौ संसारप्रवाहे लोकप्रमाणसिद्धाः ब्राह्मणादि शब्दवाच्याः अनिदम्प्रथमाः काश्चन स्त्रीपुंव्यक्तयः तत्प्रभवत्वमेवब्राह्मणत्वादिकम्। तन्मात्रगोचरं च शास्त्रम्। तं०र०, पृ० १९

शास्त्र विहित है। उस ब्राह्मणत्वादि को तथा तथोचित शास्त्र को उपाधि के रूप में (जाति के बहाने) आप भाट्टों ने भी स्वीकार कर लिया - इसमें कोई हानि नहीं। इस सबका विवेचन ग्रन्थकार ने 'जाति निर्णय' वाले प्रकरण में किया है।

ग्रन्थकार द्वारा वैशेषिकों के 'विशेष' का निराकरण

वैशेषिकवादी 'विशेष' नामक धर्म को अलग से मानते हैं।[१] यह विशेष वह सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु को पृथक् करती है। प्रत्येक परमाणु भी एक दूसरे से भिन्न है - विशेष है। प्रशस्तपाद ने 'अन्त्य' को विशेष कहा है जो अत्यन्त व्यावृत्ति के हेतु होने के कारण 'विशेष' कहलाते हैं।[२] ये दिक्काल परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में रहते हैं।[३]

रामानुजाचार्य पूर्वपक्ष में रखकर[४] इस विशेष नामक धर्म के विषय में कहते हैं कि - यह सिद्ध नहीं होता - क्योंकि परमाणुओं के पृथक् होने से उनकी व्यावृत्ति तो स्वत: सिद्ध हो जाती हैफिर 'विशेष' की इसमें क्या आवश्यकता है?[५] ग्रन्थकार आगे फिर कहते हैं कि यदि वैशेषिकवादी यह मानते हों कि पृथक्त्व तो सर्वसाधारण का ही व्यावर्तक है नित्य द्रव्यों में अत्यन्त व्यावृत्ति उससे नहीं हो सकती तो यह भी उचित नहीं - क्योंकि नित्य द्रव्यों में व्यावृत्ति सम्भव ही नहीं। यदि कोई (प्र०पा०भा० कारादि) यह कहें कि देखने वालो के लिए वह सम्भव है - तो यह भी उचित नहीं क्योंकि आज तक किसी ने देखा ही नहीं।[६]

अयोग्य (अति सूक्ष्म) वस्तु का साक्षात् नहीं हो सकता। यदि कोई

१. अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य:। वै०सू० १.२.६
२. ते खल्वत्यन्तव्यावृत्ति हेतुत्वाद्विशेषा एव। न्या०क०सं०, प्र०पा०भा०, पृ० ३६
३. नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा:। वही, पृ० ३६
४. वैशेषिकास्तु-समानगुणकर्मजातिषु नित्यद्रव्येषु परस्परव्यावृत्तिनिमित्तं विशेषाख्यं धर्ममाहु:। तदनुपपन्नम् पृथक्त्वेनैव व्यावृतिसिद्धे:। तं०र०, पृ० १९
५. पृथक्त्वं हि परमाणूनां स्थूलद्रव्यारम्भलक्षणकार्योन्नेयम्। तदतिरेकिणि तु विशेषे न किञ्चित् प्रमाणम्। प्र०पं०, पृ० २६८
६. तं०र०, पृ० १९

कहे कि परमाणुओं को कोई प्रत्यक्ष देख सकता है मेय होने से, घट के समान वैशेषिकों का यह अनुमान भी नहीं चल सकता। क्योंकि निरवयव होने से बाह्य प्रत्यक्ष और मूर्त होने से मानस प्रत्यक्ष भी नहीं सिद्ध होता[१]- यह कथन भी ठीक नहीं कि - योगियों को ही इसका प्रत्यक्ष हो जाता होगा - अतः वैशेषिकों का विशेष तो कथाओं में ही शेष रह जाता है।[२]

समवाय स्वरूप विश्लेषण

दो अयुत सिद्धों के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं।[३] जहाँ दो वस्तुएँ पृथक् आश्रय से रह सकती हों उसे युतसिद्धि और जिन दो वस्तुओं में एक दूसरे के आश्रित ही रहती है उसे अयुत-सिद्धि कहते हैं - 'पृथग्गतिमत्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीतत्त्वायुतसिद्धिः'[४] मेज़ और मेज़ पर रखी हुई पुस्तक - इन दोनों का सम्बन्ध युतसिद्ध है क्योंकि इनमें से एक के नष्ट होने पर अथवा आधार के न रहने पर भी आधेय (पुस्तक) को अलग से देखा जा सकता है परन्तु मेज़ और मेज़ के रूप को ऐसे नहीं देखा जा सकता। रूप को रूपी से अलग कभी नहीं किया जा सकता जब जब मेज़ का रूप दीखेगा तो वह मेज़ के आश्रित होकर ही दीखेगा अतः यह 'अयुत-सिद्धों' का सम्बन्ध है - इसी को ग्रन्थकार रामानुजाचार्य ने 'समवाय-सम्बन्ध' कहा है। विशेष विश्लेषण के लिए तर्कभाषा प्रभृति लक्षण ग्रन्थों का देखा जा सकता है।[५]

शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र ने उक्त समवाय के लक्षण में दोष दिखाया है। उन्होंने कहा है कि अवयव और अवयवी में यह सम्बन्ध लागू नहीं हो सकता क्योंकि अवयवी अपने अवयवों में रहता है और अवयव अपने अवयवों में रहता है[६] यथा - घट कपाल में रहता है और

---

१. निरवयवद्रव्यत्वेन बाह्यप्रत्यक्षत्वस्य मूर्तत्वेन मानसप्रत्यक्षत्वस्य चासिद्धिः।
२. तस्माद्विशेषाः कथासु परिशिष्यन्ते। तं०र०, पृ० १९
३. अयुतसिद्धयोस्सम्बन्धस्समवायः। वही, पृ० १९
४. प्र०पं० (टि०), पृ० ९२
५. ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपरात्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। त०भा०, पृ० २६
६. यद्येवम्, अवयवावयविनोः सम्बन्धः समवायो न स्यात् .... अवयविनः, अवयवानां च स्वावयवाश्रयत्वात्। शा०दी०, पृ० २०३

कपाल कपालिकाओं के आश्रित रहती है - अतः उन्होंने अलग से समवाय का लक्षण किया है कि - येन सम्बन्धेनाधेयमाधारे स्वानुरूपां बुद्धिं जनयति स्वाकारेण बोधयतीत्यर्थः स सम्बन्धः समवाय इति।[१]

प्रभाकर परम्परा में समवाय

जिस समवाय को कुमारिल भट्ट ने अलग से कोई सम्बन्ध ही नहीं माना अपितु धर्म धर्मी के स्वरूप में - अभेद (तादात्म्य) कहकर टाल दिया[२] एवं जिस समवाय को न्याय वैशेषिक ने नित्य कहकर एक संकुचित दायरे में लाकर खड़ा कर दिया उस समवाय सम्बन्ध को प्राभाकर आचार्यों ने उदाहरतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। शालिकनाथ मिश्र वैशेषिकों की तरह समवाय को केवल नित्य ही नहीं मानते - अपितु - नित्य और अनित्य दोनों ही प्रकार का मानते हैं।[३]

रामानुजाचार्य के अनुसार प्रभाकर मत की पुष्टि

रामानुजाचार्य ने समवाय सम्बन्ध तीन प्रकार के पदार्थों में माना है तथा नित्य और अनित्य दोनों ही प्रकार का माना है। यह दो नित्य पदार्थों में नित्य, नित्यानित्य पदार्थों में अनित्य तथा दो अनित्य पदार्थों में भी अनित्य होता है।[४]

१. दो नित्य पदार्थों में समवाय

परमाणु और आकाश दो नित्य पदार्थ हैं इनका सम्बन्ध 'नित्य समवाय-सम्बन्ध' है।[५]

---

१. शा०दी०, पृ० २०३

२. अभेदात्समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः। न हि स व्यतिरिक्तः सन् सम्बन्धं प्रतिपद्यते। देखें न्या०र० तथा श्लो०वा० प्रत्यक्ष १४९-५०

३. समवायं च न वयं काश्यपीया इव नित्यमुपेमः। प्र०पं०, पृ० ९२
समवायं च वैशेषिकादय इव न वयं नियमेन नित्यमभ्युपेमः। न्या०सि० (प्र०पं०), पृ० ९२

४. स च नित्ययोर्नित्यः। अनित्ययोर्नित्यानित्ययोश्चानित्यः। तं०र०, पृ० १९

५. नित्ययोराकाशमहत्वयोर्नित्यः। प्र०पं०, न्या०सि०, पृ० ९२, (द्र० टि० भी)

२. दो अनित्य पदार्थों में समवाय

तन्तु और पट दो अनित्य पदार्थ हैं। पट तन्तुओं में समवेत रहता है- इन दोनों के बीच अनित्य समवाय सम्बन्ध है।[१]

३. नित्य और अनित्य पदार्थों में समवाय

जाति नित्य और व्यक्ति अनित्य है। व्यक्ति के नष्ट होने पर जाति का व्यक्ति से समवाय सम्बन्ध भी हट जाता है अतः इनमें भी अनित्य समवाय सम्बन्ध है।[२]

समवाय की उत्पत्ति और अनुमान

समवाय की उत्पत्ति संयोग से या कर्म से नहीं होती, प्राक्सत्ता की भी उसके लिए अपेक्षा नहीं है।[३] ग्रन्थकार रामानुजाचार्य लिखते हैं[४] कि 'यतः कार्यमुत्पद्यते तत एव तदुत्पत्तिरपि' प्राभाकराचार्य शालिकनाथ मिश्र भी यही कहते हैं - 'यत एव तु पिण्डस्योदयः समवायिकारणात्, तत एव जाति समवायोऽपि तस्य उत्पद्यते।'[५]

इस समवाय सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान से होता है जैसे ग्रन्थकार ने संयोग और विभाग से कर्म का अनुमान सिद्ध किया है इसी प्रकार दो पदार्थों में एक को दूसरे में समवेत देखकर समवाय सम्बन्ध का भी अनुमान हो जाता है।[६] प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुपलम्भ होने से तन्त्ररहस्यकार रामानुजाचार्य ने इसको नित्य अनुमेय बताया है।[७]

---

१. द्र० टि०, पृ० ९२

२. विनष्टायामपि व्यक्तौ न जाति ..... केवलं तद्व्यक्तिसमवायस्तस्या निवर्तते। प्र०पं०, पृ० ९३

३. समवायस्तु संयोगादभिन्नः, न कर्मजः, प्राक्सत्तापेक्षापि तत्र न। नापि संयोगजः, कर्मसंयोगयोरदर्शनात्। न्या०सि०, प्र०पं०, पृ० ९०

४. तं०र०, पृ० १९

५. प्र०पं०, पृ० ९०-९१

६. तं०र०, पृ० १८-१९

७. नित्यानुमेयश्च। प्रत्यक्षेणानुपलम्भात्। वही, पृ० १९

शक्ति

भारतीय आस्तिक दर्शनों में कारण से कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त तो सभी को मान्य है परन्तु कारण में भी 'शक्ति' नामक तत्त्व रहता है- मीमांसकों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र - इन दोनों ही विद्वानों ने इस शक्तित्व का प्रतिपादन किया है। मीमांसकों ने इस शक्ति को लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की मानी है - लौकिक शक्ति - जैसे अगिन में दाहकत्व आदि तथा वैदिक शक्ति विधि-वाक्यों पर आधारित होती है।[१] इसी को 'अपूर्व' भी कहते हैं।[२] प्रभाकर परम्परा में इस अपूर्व का बहुत बड़ा महत्त्व है।

प्रभाकर मिश्र के मत में यह शक्ति वह तत्त्व है जो मनुष्य को जन्म-जन्मान्तरों तक जोड़े रखती है आज किये हुए कर्म का यदि दीर्घ दीर्घतर काल में फल मिलेगा तो कर्म कर्ता को फल से जोड़े रखने वाली यही अपूर्व-शक्ति है। इसी अपूर्व शक्ति के अनुसार मनुष्य यागादि श्रेष्ठ कर्मों को करता हुआ सुख के धाम - स्वर्ग को प्राप्त किया करता है।[३] प्राभाकरों ने इसी को धर्म भी कहा है।[४] शा०भा० कृत धर्म की परिभाषा[५] पर बृहतीकार ने यह स्पष्ट किया है कि कार्य को धर्म नहीं कहा जा सकता।[६] यह शंका होती है कि 'श्रेयस्करो धर्मः' में जो धर्म में ही कार्यत्व प्रतीत हो रहा है उसका फिर क्या तात्पर्य? इस पर बृहती के व्याख्याता 'पञ्चिका' कार शालिकनाथ मिश्र कहते हैं कि वह कार्य रूप श्रेयस्करत्व

---

१. सा तु लौकिक-वैदिकभेदेन द्विविधा। मा०मे०, पृ० २४६
२. मीमांसा दर्शनम् (डॉ० मण्डन मिश्र रचित) पृ० २५८ / मीमांसा प्रदीप, पृ० ४२ (गंगा प्रसाद उपाध्याय)
३. अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्।
४. तदेव धर्म इत्युच्यते लोके .... शा०दी०, पृ० ३९
धर्मः पुरुषगुणः। प्र०पा०भा०, पृ० २२५
५. य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते। शा०भा० (बृहती, प्र०मा०, पृ० ३२ पर)
६. ननु नैव कार्यो धर्मः। बृहती, पृ० ३३

भी अपूर्व को ही आश्रय बनाकर ज्ञापित होता है[१]- इस प्रकार गुरुमत में इस शक्ति की गरिमा का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

ग्रन्थकार द्वारा शक्ति की स्थापना

जिस शक्ति को कुमारिल भट्ट ने गुणों में ही अन्तर्भूत कर दिया उस शक्ति को प्राभाकराचार्यों ने एक अलग से पदार्थ के रूप में माना है।[२]

रामानुजाचार्य के अनुसार संसार के प्रत्येक भाव पदार्थ में एक शक्ति रहती है जब वह कार्य के रूप में परिणत होती है तो उससे उसका अनुमान हो जाता है। कुमारिल भट्ट ने शक्ति को अर्थापत्ति से ज्ञात माना है परन्तु ग्रन्थकार के अनुसार अतीन्द्रिय होने से उसका अनुमान ही होता है। यह शक्ति वस्तु से भिन्न तत्त्व है।

ग्रन्थकार एक अनुमान वाक्य का प्रयोग करते हुए लिखते हैं[३] - 'यथा भूतादेव वह्नेर्दाहो दृष्टः मणिमन्त्रौषधिप्रयोगे सति तथाभूतादेव वह्ने र्दाहो न दृश्यते' अर्थात् जलाने की शक्ति अग्नि से अतिरिक्त वस्तु है क्योंकि जिस अग्नि के अन्दर जलाने की शक्ति है उसके समीप अगर चन्द्रकान्त मणि रख दी जाये तो वही अग्नि जलाने का काम नहीं करती- अगर शक्ति अलग से कोई पदार्थ न होता तो चन्द्रकान्त मणि को पास में रखने पर भी अग्नि में जलाने का कार्य होना चाहिए था क्योंकि अग्नि तो वही थी जो मणि न रखने से पहले थी, इससे अनुमान होता है कि मणिमन्त्रादि से रोकी जा सकने वाली अथवा नष्ट हो जाने वाली शक्ति नामक पृथक् पदार्थ है उसी को सामर्थ्यादि पदों से भी कहा जा सकता है।[४]

शक्ति की द्विविध गति - रामानुजाचार्य मत

ग्रन्थकार के मत में शक्ति की कार्य के रूप में उत्पत्ति उसके आश्रय रूप कारण से होती है।[५] कार्य का उत्पादक कारण विद्यमान रहने

१. अपूर्वाधिकरणे श्रेयस्करत्वस्य ज्ञापितत्वात्। बृहती, पृ० ३३
२. प्र०पं० (शक्तिनिरूपणम्), पृ० २१८, प्र०वि०, पृ० ३९ से ४२ तक, नयविवेक, पृ० २३४-३५
३. सर्वभावेष्वतीन्द्रिया शक्तिः कार्येणानुमीयते। तं०र०, पृ० २०
४. तन्त्ररहस्य, पृ० २०
५. तस्य च स्वाश्रयकारणादुत्पत्तिः। तं०र०, पृ० २०

पर भी जब उत्पन्न नहीं होता - तब शक्ति की दो गतियाँ समझनी चाहिए[१]- १. अभिभव, २. और विनाश।

जहाँ कारण के रहते हुए भी प्रयत्न करने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता - तो समझना चाहिए कि शक्ति नष्ट हो चुकी - यथा स्त्री-पुरुष के रहते भी उत्पादकत्व शक्ति के नष्ट हो जाने पर सन्तान पैदा नहीं होती अथवा भूने हुए बीज में उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो जाती है - लाख प्रयत्न करने पर भी वह अकुंरित नहीं हो सकता।[२] जहाँ कारण के रहने पर कार्य उत्पन्न हो जाता है तब समझना चाहिए कि वह शक्ति अभिभूत होई हुई थी - छिपा ली गई थी जैसे चनद्रकान्त मणि को पास में रखने से अग्नि में दाह नहीं होता हटा लेने पर पुनः 'दाह' रूप कार्य हो जाता है।[३] शालिकनाथ मिश्र ने भी यही माना है[४] - 'तस्य च कार्यानुत्पत्तौ द्वयी गतिरभिभवः विनाशो-वा' यत्र कदाचिदपिकार्यं न दृश्यते तत्र विनाश एव। यत्र पुनः प्रतीकारवशेन कार्योदयः, तत्राभिभवो मात्रम्।

भवनाथ मिश्र

भवनाथ मिश्र ने भी 'शक्ति' नामक पदार्थ की अनुमान से सिद्धि की है। इन्होंने इस शक्ति को आश्रय भेद से नित्य और अनित्य माना है।[५]

भाट्ट सम्मत शक्ति स्वरूप निरूपण

शक्ति कुमारिल भट्ट के अनुसार द्रव्य गुणकर्म में रहने वाली, शक्तित्व जाति युक्त तथा अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है।[६] गागाभट्ट ने सहज और आधेय भेद से दो प्रकार की मानी है। जनकतावच्छेदिका

---

१. कार्यानुत्पत्तौ द्वयीगतिरभिभवो वा विनाशो वा। वही, पृ० २०
२. यत्र पुनः कार्यं न जन्यते तत्र विनाशः। तं०र०, पृ० २०
३. यत्र तु जन्म तत्राभिभव इति। वही, पृ० २०
४. प्र०पं०, पृ० २१९ (शक्ति निरूपणम्)
५. सा च नित्याश्रया नित्येव अनित्याश्रयाश्रयहेतुजा। नयविवेक, पृ० १३६
६. शक्तित्वसामान्यवतीं द्रव्यकर्मगुणाश्रयाम्।
श्रुत्यर्थापत्तिविज्ञेयां शक्तिमाहुः कुमारिलाः। मा०मे०, पृ० २४६

सहजशक्ति है और प्रोक्षणादिजन्य व्रीति आदि में आधेय शक्ति है।[१] भाट्ट मतानुयायी भाट्टार्ककार ने भी शक्ति के दो भेद मानते हुए सहज शक्ति के विषय में कहा है कि आद्या संस्कारत्वादिकाशाब्दीय०।[२] कुमारिल भट्ट तथा उसके अनुयायियों ने शक्ति को गुण माना है।[३] वे इसे अलग से पदार्थ मानने को तैयार नहीं – इसी में वे कल्पनालाघव समझते हैं।[४] प्राभाकरों के अपूर्व को भी कुमारिल भट्ट ने शक्ति से अलग नहीं माना।[५] तत्त्वचिन्ता-मणिकार गङ्गेश ने शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन किया है।[६]

शक्ति खण्डन : नैयायिक मत

नैयायिक कारण से अलग शक्ति को नहीं मानते बल्कि कारण में ही शक्ति सन्निहित रहती है और वह शक्ति प्रतिबन्धक (रूकावट) से रहित होनी चाहिए। उदयनाचार्य का स्पष्ट मत है[७] कि जैसे भाव पदार्थ किसी कार्य के प्रति कारण होता है उसी प्रकार अभाव भी कार्य के प्रति कारण होता है और वह अभाव प्रतिबन्धक का होना चाहिए क्योंकि वही कार्य की सामग्री के विघटन में प्रतिबन्ध का हेतु है। उदयनाचार्य के इस कथन को न्याय सिद्धान्त मुक्तावलीकार और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अगर चन्द्रकान्त मणि को आग के पास रखने से दाह रूप कार्य करने लगती है तो फिर मणि के अभाव से विशिष्ट अग्नि को ही दाह के प्रति

---

१. अतो जनकतावच्छेदकतया सहशक्तिस्तावदावश्यकी एवमाधेयशक्तिरपि प्रोक्षणादिजन्या व्रीहिनिष्ठा। भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३३-३४

२. भाट्टार्कः। पृ० ६२

३. गुणोक्तलक्ष्मसद्भावादस्याश्चगुणता मता। मा०मे० गुणानां निरूपणम्। श्लो० ४५, पृ० २४९

४. अस्याः सिद्धस्येव पदार्थस्य गुणत्वेन कल्पने लाघवाद्, अन्यथा गौरवप्रसङ्गात्। मा०मे०, पृ० २४८

५. तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागेदेः शक्तिमात्रकम्।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्।। वही, पृ० २६०

६. तत्वचिन्तामणि

७. भावो यथा तथा भावः कारणं कार्यवन्मतः।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतु प्रतिबन्धकः। (न्या०कु०प्र० स्तवक, पृ० ३५)

कारण मान लेना चाहिए अलग से शक्ति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? फिर उसकी भी उत्पादक एक अन्य शक्ति माननी पड़ेगी फिर तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी?[१] गङ्गेश उपाध्याय के अनुसार[२] कारण और प्रतिबन्ध एक जगह रह ही नहीं सकते - अर्थात् वास्तविक कारण ही वह है तो प्रतिबन्धकाभाव से युक्त है। यदि प्रतिबन्धकत्व रहेगा तो वहाँ कारणत्व नहीं रहेगा।

प्राभाकरों द्वारा नैयायिक मत का खण्डन

परन्तु नैयायिकों की अभाव को कार्य के प्रति कारण मानने की युक्ति का लगभग सभी प्राभाकर आचार्यों ने एक स्वर से खण्डन किया है[३] न केवल प्राभाकरों ने ही अपितु कुमारिल भट्ट और उसके अनुयायी भाट्टों ने भी नैयायिकाभिमत प्रतिबन्धकत्व के गढ़ को ध्वस्त किया है।[४]

रामानुजाचार्य ने तार्किकों के उक्त कथन को पूर्वपक्ष में रख कर उसका खण्डन किया है[५] और कुमारिल भट्ट से अलग होते हुए शक्ति को गुण नहीं अपितु अलग से द्रव्य माना है क्योंकि शक्ति द्रव्य की अपेक्षा गुणों में भी रहती है।[६] प्राभाकर, वैशेषिकों[७] के समान द्रव्य को गुणाश्रयी मानते हैं शक्ति भी गुणाश्रयी है अतः द्रव्य है।

प्रकरणपञ्चिकाकार[८] और प्रभाकरविजयकार[९] को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार रामानुजाचार्य ने अभाव को कार्योत्पत्ति के प्रति निमित्त नहीं माना।

---

१. न्या०सि०मु०, पृ० २१
२. सामान्य निरुक्तिः कारणत्वप्रतिबन्धकत्वयोरेकत्रासत्वकथनम्। पृ० ५३५
३. प्रभाकर विजय पृ० ४०-४२, प्रकरणपञ्चिका पृ० २१६, नयविवेक पृ० १३४-३४, तं०र०, पृ० २०
४. भाट्टचिन्तामणि पृ० ३३ (मा०मे० अभावस्य सर्वत्राप्यकारकत्वात्, पृ० २४७)
५. तं०र०, पृ० २०
६. मा०मे०, पृ० २५१ पर (पूर्वपक्ष में स्थापित)
७. क्रियागुणवत् ..... द्रव्य लक्षणम्। वै०सू० १.१.१५
८. प्र०पं०, पृ० २१९, शक्ति निरूपणम्
९. प्रभाकर विजय - अतीन्द्रियशक्तिसमर्थनप्रकरणम्, पृ० ३९-४२ तक

ग्रन्थकार ने नैयायिकों को पूर्वपक्ष में रखते हुए स्पष्ट कहा है कि यदि पूर्वपक्षी यह मानकर चलते है कि[१] अगर मणिमन्त्र आदि प्रतिबन्धक के प्रयोग से ही अग्नि में दाह आदि कार्य नहीं होता तो फिर उसका प्रयोग न होना ही दाह का उत्पत्ति निर्मित मान लेना चाहिए - यह पूर्वपक्ष का कथन अनुचित है क्योंकि मणि आदि का प्रयोग तो प्रतिबन्ध है और उसको हटा लेना उसका निवृत्ति - रूपत्व है - उसे निमित्त नहीं कहा जा सकता।[२] पुनश्च कार्योत्पत्ति तो जिसका प्रतिबन्ध हट गया है - उस शक्ति से ही मानी जायेगी।

उदाहरणस्वरूप - घड़ा बनाने में निमित्त कुम्भकार अगर किसी के द्वारा रोक लिया जाता है तो घड़ा नहीं बनता और छोड़ दिया जाने पर घड़ा बन जाता है - वहाँ उस कुम्भकार को रोकने का अभाव घट निर्माण में निमित्त तो वह रूकावट से रहित कुम्भकार ही है क्योंकि कार्य की उत्पत्ति उसी से हो रही है।[३]

वस्तुतः अभाव को कार्य का निमित्त नहीं माना जा सकता। कई बार चन्द्रकान्त मणि के होते हुए भी - उत्तेजक सूर्यकान्त मणि को पास में रखने पर भी अग्नि में दाह रूप कार्य होने लगता है - इससे भी सिद्ध होता है कि अभाव कार्य के प्रति निमित्त नहीं[४] - अगर होता तो चन्द्रकान्त मणि के रहने पर भी कार्य उत्पन्न न होता क्योंकि नैयायिकों के अनुसार तो मणि आदि का अभाव कार्य के प्रति निमित्त है।

विश्वनाथ पञ्चानन इस बात पर पुनः तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि केवल चन्द्रकान्त मणि का अभाव ही दाह के प्रति कारण नहीं अपितु उत्तेजक सूर्यकान्त मणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्त मणि का

१. ..... तदप्रयोगोऽपि तदुत्पत्ति निमित्तमिति चेत् न। तं०र०, पृ० २०
२. प्रयोगस्य प्रतिबन्धकतया तदभावस्य केवलं तन्निवृत्तिरूपत्वमेव न तु निमित्तत्वम्। तं०र०, पृ० २०
३. कार्योत्पत्तिस्तु निवृत्तप्रतिबन्धायाशक्तेरेव। वही, पृ० २०
४. किं च क्वचित्प्रयोगेऽपि प्रतीकारवशेन कार्योत्पत्ति-दर्शनान्न तदभावस्य निमित्तत्वम्। वही, पृ० २०

अभाव दाह के प्रति कारण है।[१]

रामानुजाचार्य का मत है कि नैयायिक ऐसा कह कर भी शक्ति का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि यदि इस प्रकार अभाव को निमित्त मानकर शक्ति को तिरोहित किया जाता रहेगा फिर तो - गिरती हुई वस्तु में रुकावट आने पर उस रुकावट का अभाव ही पतन में निमित्त माना जाने लगेगा। उस वस्तु का गुरुत्व तो दत्तजलाञ्जलि रूप हो जायेगा - इसका तात्पर्य है उस गुरुत्व का (न्या०वै०) कोई महत्त्व ही नहीं रहा।[२]

वस्तुस्थिति यह है कि न्या०वै० के अनुसार किसी रुकावट के न होने पर गुरुत्व के कारण ही किसी वस्तु का पतन होता है।[३] अतः ग्रन्थकार रामानुजाचार्य नैयायिकों को उन्हीं का मत याद दिलाते हुए कहते हैं कि 'असतिप्रतिबन्धे गुरुत्वात्पतनमिति हि त्वन्मतस्थितिः'[४] अर्थात् प्रतिबन्धक के न होने पर गुरुत्व के कारण पतन होता है न कि प्रतिबन्ध के भाव से यह तो तुम्हारा ही सिद्धान्त जैसा कि सूत्रकार ने कहा है -

'संयोगप्रयत्नाभावे गुरुत्वात् पतनम्' (वै०सू० ५.१.७) तो फिर तुम अपने ही शास्त्र को भूल कर गुरुत्व को जलाञ्जलि दे रहे हो।

भवनाथ मिश्र अभाव के कारणत्व का इस प्रकार निराकरण करते हैं -

'स्वकाले यदवुर्वस्तु करोत्यन्यदचेतनः।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते॥'[५]

अर्थात् - यदि कोई अज्ञानी नित्यकर्मों के अनुष्ठान के अभाव से विघ्नों को प्राप्त होता है तो उन विघ्नों का कारण उन नित्यकर्मों के

१. न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्। उत्तेजकाभाव-विशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्। न्या०सि०मु०, पृ० २१

२. एवमपि निमित्तत्वमङ्गीकृत्य शक्तिरपह्नूयते चेत् - स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगेन पतनप्रतिबन्धे तदभावस्यैव तन्निमित्तत्वात् गुरुत्वं दत्तजलाञ्जलि स्यात्। तं०र०, पृ० २०

३. संयोग प्रयत्नाभावे गुरुत्वात् पतनम् वै०सू० ५.१.७

४. तं०र०, पृ० २०

५. नयविवेक - पृ० १३५ द्र० अनुमान प्रकरण में।

अनुष्ठान का अभाव नहीं अपितु नित्य कर्मों से जो नष्ट न हो सके - वे अपूण्य आदि उसके निमित्त हैं।

नन्दीश्वर भी यही कहते हैं[१] - अभाव से प्रत्यवाय की उत्पत्ति नहीं अपितु अन्य कारण से होती है।

शक्तियुक्त अग्नि ही दाह का कारण

अन्त में शक्ति विषयक चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि मणिमन्त्र आदि - प्रयुक्त हुई अग्नि दाह रूप कार्य को उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रूप से भिन्न रूप की अपेक्षा रखेगी - यदि रूपान्तर में आने पर भी दाह रूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकेगी तो फिर किसी अन्य स्वरूप की अपेक्षा रखेगी - कहने का तात्पर्य यह है - 'यथा केवलं तथेति' अपने स्वाभाविक स्वरूप से युक्त बाधक रहित केवल वह अग्नि ही दाह रूप कार्य का निमित्त है अभाव नहीं।[२] इसके अतिरिक्त शक्ति को न मानने पर कार्यार्थीजन दाह आदि कार्य के लिए एक निश्चित कारण को नहीं ढूंढ़ सकेगा फिर तो पानी में भी दाह रूप कार्य की कल्पना होने लगेगी और शक्ति को स्वीकार करने का उन उन पदार्थों से दाह आदि की आशा की जा सकती है जो दाह व्यापार में शक्त हैं। प्रत्येक वस्तु में अग्नि की कल्पना नहीं की जायेगी - ऐसा नियम सिद्ध हो जायेगा।[३]

सङ्ख्या

न्या०वै० के अनुसार

न्याय-वैशेषिक के अनुसार संख्या एकत्व आदि व्यवहार हेतुक गुण है।[४] इसकी वृत्ति सभी (नव) द्रव्यों में है - यह संख्या एक से लेकर

---

१. प्रभाकरविजय, पृ० ३९, 'अतीन्द्रियशक्तिसमर्थनप्रकरणम्'

२. तं०र०, पृ० २०

३. कि च शक्त्यनङ्गीकारे कार्यार्थिभिर्नियतकारणोपादानं न स्यात्।
तदङ्गीकारे तु यच्छक्तं तदेवोपादीयते नान्यदिति नियमसिद्धिरिति। वही, पृ० २०

४. त०सं०, पृ० २८, त०मा०, पृ० २९३, प्र०पा०भा० (न्यायकन्दली सहित), पृ० २६७

परार्द्ध तक मानी गई है। किरणावलीकार उदयन ने शक्ति संख्या सादृश्य- इन तीनों का द्रव्यादि में ही अन्तर्भाव किया है।[१]

कुमारिल भट्ट के अनुसार संख्या

कुमारिल भट्ट ने भी संख्या को उक्त रूप में ही स्वीकार किया है।[२] इन्होंने संख्या को सब द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण कहा है।[३] मानमेयोदय के प्रथम परिशिष्ट में गुरुसम्मत पदार्थों में संख्या के विषय में- इस प्रकार लिखा है[४] 'एकत्वादि प्रत्ययव्यवहारस्य हेतुः संख्या तत्रैकत्व द्वित्व त्रित्वादयो जातिवत् सर्वत्रैकैका नित्याश्च'। किरणावलीकार उदयन से भी इसे समर्थन प्राप्त है।[५]

ग्रन्थकार के मत में संख्या एक पृथक् पदार्थ

ग्रन्थकार रामानुजाचार्य ने संख्या को भी एक स्वतन्त्र पदार्थ घोषित किया है।[६] प्र०पं० पर न्यायसिद्धिकार ने प्रभाकराभित पदार्थों में संख्या को अलग पदार्थ गिना है।[७] संख्या को पृथक्पदार्थ मानने के सम्बन्ध में अन्यत्र प्राभाकर ग्रन्थों में नाम मात्र का उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता रामानुजाचार्य ने अपनी तार्किक बुद्धि से संख्या को एक अलग पदार्थ सिद्ध किया है।[८]

---

१. किरणावली - शक्त्यादीनां एष्वेवान्तर्भावात्, पृ० २०६, सम्पादक - गौरीनाथ शास्त्री, वाराणसी, १९८०
२. संख्यापुनरेकत्वादि व्यवहारहेतुः। मा०मे०, पृ० २२०
३. सर्वद्रव्यवर्तित्वात्सामान्यगुणः। वही, पृ० २२०
४. मा०मे०, प्र०परि० गुरुसम्मत-पदार्थनिरूपण। पृ० ३०५-६
५. .... एकादीत्यनेन गणितमुपलक्ष्यते .... तेन गणितव्यवहारहेतुर्गुणः सङ्ख्येति लक्षणमुक्तं भवति - किरणावली, पृ० १२५ (बड़ौदा - १९७१)
६. तथा सङ्ख्याऽपि पृथक्तत्वान्तरम्। तं०र०, पृ० २०
७. अत्र चेयं प्राभाकरणां पदार्थ-प्रक्रिया - नवधा पदार्थाः द्रव्यं, गुणः कर्म, सामान्यम्, समवायः शक्तिः संख्या .....। प्र०पं०, न्या०सि०, पृ० ७८
८. तन्त्ररहस्य, पृ० २०

सङ्ख्या द्रव्य नहीं

न्या०वै० अभिमत द्रव्य लक्षण ही प्राभाकरों को भी अभीष्ट है - तदनुसार गुण और क्रिया जिसमें समवेत हों वह 'द्रव्य' कहलाता है।[१] संख्या में द्रव्य का लक्षण नहीं घटता ग्रन्थकार कहते हैं कि संख्या तो गुणादि में भी रहती है[२] - दो प्रकार का गन्ध तथा तीन प्रकार का स्पर्श- इत्यादि प्रायशः संख्या के विषय में व्यवहार होता है।[३] यहाँ पर यदि यह कहा जाए कि गुणादि में इसकी वृत्ति औपचारिक है - यह भी ठीक नहीं क्योंकि उपचार (लक्षणा) नहीं है औपचारिक प्रयोग वहीं होता है जहाँ मुख्य अर्थ का बाध होता हो।[४] जैसे किसी ने कहा - 'ओ रिक्शा' तो यहाँ पर तो रिक्शा का बाध होकर रिक्शा चालक का ग्रहण हो जायेगा परन्तु 'गुणों में भी संख्या' रहती है - इसमें किसका बाध होगा और कैसे होगा? यदि कोई कहे - कि गुणत्व का ही बाध हो जायेगा - तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता।[५] अतः ग्रन्थकार ने स्पष्ट कहा है - 'न सा द्रव्यम्' संख्या द्रव्य नहीं है।

संख्या गुण नहीं

संख्या को गुण भी नहीं माना जा सकता - जैसे घटत्व असंख्य घटो में रहता है - इसी प्रकार संख्या बहुतों के आश्रित होने से गुण नहीं कहा जा सकता[६] - जबकि गुणों की वृत्ति किन्हीं सीमित पदार्थों में ही होती है।

संख्या सामान्य भी नहीं

ग्रन्थकार के अनुसार संख्या को सामान्य के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता - क्योंकि सामान्य नित्य है जबकि संख्या अनित्य है।[७]

---

१. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। वै०सू० १.१.१५
२. गुणादिषु वृत्तेः। तं०र०, पृ० २०
३. गन्धो द्विविधस्पर्शस्त्रिविध इति। वही, पृ० २०
४. तत्र वृत्तिरौपचारिकीति चेत् न। मुख्ये बाधकाभावात्। वही, पृ० २०
५. वही, पृ० २०
६. न गुणः। बहुषु वृत्तेः। घटत्वादिवत्। तं०र०, पृ० २०
७. न सामान्यम्। अनित्यत्वात्। वही, पृ० २०

संख्या कर्म नहीं[१]

तन्त्ररहस्यकार रामानुजाचार्य ने संख्या को कर्म के अन्तर्गत भी नहीं माना क्योंकि प्राभाकर परम्परा में कर्म अनुमान गम्य है जबकि संख्या का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रतीति के विलक्षण होने से भी संख्या को कर्म के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता।[२]

गुण का लक्षण 'द्रव्याश्रयी' है कभी कोई यह समझने लगे कि शक्ति संख्यादि में भी अति प्रसंग आने लगेगा - शक्ति संख्यादि में अतिप्रसंग आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि गुण तो केवल द्रव्याश्रयी ही होता है जबकि संख्या आदि तो गुणों में भी रहते हैं अतः अतिप्रसंग नहीं होगा।

इस प्रकार संख्या एक पृथक् ही पदार्थ है ऐसा प्राभाकर आचार्यों से अनुमोदित ग्रन्थकार का मत है।

सादृश्य

१. लक्षण

बृहतीकार प्रभाकर मिश्र ने सादृश्य का लक्षण इस प्रकार किया है- 'सादृश्यम्' इति हि सादृश्यम्।'[३] शालिकनाथ मिश्र ने इसका अर्थ किया है- 'यत्र ज्ञानम् तत् सादृश्यम्' अर्थात् जहाँ विषयगत समानता का ज्ञान हो तो 'सादृश्य' कहते हैं - अस्ति चेदं ज्ञानम्, तन्निबन्धना च विषय-व्यवस्था।[४] पञ्चिकाकार शालिकनाथ मिश्र ने यहाँ पर यह भी स्पष्ट किया है कि उस सादृश्यमूलक ज्ञान से गुण आदि से भिन्न - उस वस्तु के अन्दर के सादृश्य को समझना चाहिए अर्थात् केवल ऊपर-ऊपर से गुण और

---

१. न कर्म। प्रत्यक्षत्वात्। तत्प्रतीतिवेलक्षण्याच्च। वही, पृ० २०

२. द्रव्यमेवाश्रयते इति द्रव्याश्रयीत्युच्यते। ततश्च - संख्यादीनां गुणादिष्वपि संभवनान्नातिप्रसंगः। प्र०पं०, न्या०सि०, पृ० ८१

३. बृहती - पृ० १०७

४. पञ्चिका (बृहतीपरकृत शालिकनाथ की वृत्ति), पृ० ८१

अवयवों की समानता नहीं अपितु तदन्तर्निवेशी सादृश्य को ग्रहण किया गया है।[१] 'सादृश्य और जाति' सम्बन्धी विवेचन में इसका उदाहरण सहित सविस्तर विवेचन किया जायेगा।

सादृश्य के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार के अनुसार किसी वस्तु के भिन्न होने पर भी तद्गत अनेक धर्मों की समानता 'सादृश्य' कहलाती है। जैसे चन्द्रमा से भिन्न मुख में चन्द्रगत आह्लादकत्वादि का होना मुख में चन्द्रका का 'सादृश्य' कहलाता है।[२] इन्होंने सादृश्य को प्राभाकरों की तरह अलग से पदार्थ नहीं माना।[३] तत्त्वचिंतामणिकार गंगेश ने भी उपमान[४]-खण्ड में सादृश्य के अलग पदार्थ होने का खण्डन किया है। वस्तुतः नैयायिक इन सादृश्य आदि धर्मों को द्रव्य, गुण-कर्मादि के अन्तर्गत ही मानते हैं - इनमें भी अधिकांश सादृश्य और संख्या को गुण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।

रामानुजाचार्यकृत सादृश्य विवेचन

रामानुजाचार्य ने सादृश्य को भी एक पृथक् पदार्थ माना है। पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार ने इसे द्रव्य में अन्तर्भूत नहीं माना क्योंकि यह गुण और कर्म में भी रहता है।[५] यह गन्ध उससे अच्छी है, इसका रूप उसके सदृश है, पुत्र की क्रियाएँ पिता के समान हैं - इत्यादि के आधार पर यह गुण और कर्म में भी देखा जाता है अतः गुण और कर्म इसे नहीं कहा जा सकता है।[६] शालिकनाथ मिश्र ने भी ऐसा ही माना है- 'तच्च न द्रव्यम्, गुणकर्मणोरप्याश्रितत्त्वात्। गन्धादयोऽपि हि सदृशबोधगोचरी

१. तेन ज्ञानबलेन गुणादिव्यतिरिक्तं तदन्तर्निवेशि वा सादृश्यमभ्युपगमनीयम्। पञ्चिका, पृ० ८१

२. तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मत्वम् - यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति। न्या०सि०मु०, पृ० २१

३. सादृश्यमपि न पदार्थान्तरम्। वही, पृ० २१

४. तत्वचिन्तामणि, उपमानखण्ड

५. तथा सादृश्यमपि न द्रव्यम्। गुणकर्मणोरपिवृत्तेः। तं०र०, पृ० २०

६. तं०र०, पृ० २०

भवन्ति, भवन्ति च कर्माण्यपि कर्मान्तरसदृशबुद्धिबोध्यानि। अतएव न गुणत्वम्, नापि कर्मत्वम्।'[१]

सामान्य सादृश्य नहीं

रामानुजाचार्य ने सामान्य को भी सादृश्य नहीं माना[२] - क्योंकि सादृश्य भिन्न है और सामान्य अलग तत्त्व है। सामान्य में तो 'अनुवृत्त-प्रत्यय निमित्तत्व' रहता है अर्थात् एक गौ को देखने के बाद द्वितीयादि पिण्डों को देखने पर भी गोत्व की ही उपलब्धि होती है - इस प्रकार समस्त गायों के सम्बन्ध में एकाकार प्रतीति सामानय है[३]- यह प्रतीति सादृश्य में नहीं हो सकती - अतः सादृश्य सामान्य से अलग है।

अधिकांशतः अवयवगत सामान्य भी सादृश्य नहीं

प्रभाकर मिश्र ने कहा है[४] 'अत्र सामान्यमेव कैश्चित् सादृश्यमुक्तम्' अर्थात् कुछ लोग गुण-अवयव और कर्म आदि की समानता को ही सादृश्य कहते हैं[५]-

सामान्यानि च भूयांसि गुणावयवकर्मणाम्।
भिन्न-प्रधान-सामान्यव्यक्तं सादृश्यमुच्यते।

पञ्चिका शालिकनाथ कृत

प्रभाकर मिश्र के उक्त वाक्य में 'कैश्चित्' शब्द कुमारिल और उसके अनुयाइयों की ओर संकेत करता है। यहाँ पर सामान्य शब्द समानानां रूपं सामान्यम् - के रूप में प्रयुक्त है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक के आकृति-वाद के अन्त में अवयव सामान्य विषयक कहा है - 'सामान्यमेव सादृश्यं भवेत्।'[६] इसी प्रकार शास्त्रदीपिकाकार ने भी सादृश्य

---

१. प्र०पं०, पृ० २६८
२. तं०र०, पृ० २०
३. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के ही जाति के अध्ययन में देखें।
४. बृहती - पृ० १०९ (मद्रास संस्करण)
५. पञ्चिका, (बृहती, पृ० १०९)
६. श्लो०वा० आकृतिवाद - श्लो० ७५

के विषय में यही कहा है –

'भूयोऽवयवसामान्यात्मकत्वात्तस्य।'[१]

परन्तु बृहतीकार पुनः कहते हैं – 'न तत्सादृश्यम्'[२] किं तर्हि? तदेव तत्, गोत्वादेरेकत्वात् अर्थात् गुणत्वादि तो दोनों में एक जैसे ही रहेंगे गोत्व आदि को एक होने से परन्तु गाय में गवय का सादृश्य अलग चीज़ है और गवय के अन्दर गाय का सादृश्य अलग चीज़ है – इसमें पञ्चिकाकार का यही निष्कर्ष है।[३]

ग्रन्थकार ने इसी सादृश्य के स्वरूप को सप्रतियोगिक के रूप में कहा है – सादृश्यं हि सप्रतियोगिकमेव प्रतीयते 'अयमनेन सदृश' इति।[४] यह सप्रतियोगिकत्व ही एक वस्तु के सादृश्य से दूसरी वस्तु के सादृश्य को अभिव्यक्त करता है – दोनों में समानता होने से।[५] अतः प्रतीति की विलक्षणता होने से गुणावयवादि की समानता ग्रन्थकार के अनुसार सादृश्य नहीं है अपि तु इससे भिन्न है और यह सादृश्य एक अलग पदार्थ है।[६]

प्र०पं० कार शालिकनाथ मिश्र ने भी यही प्रतिपादित किया है – 'पदार्थान्तरमेवेदं शक्तिवत् संख्यावच्चेति'।

मोक्ष

मोक्ष के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न चिन्तन परम्परा रही है। न्याय वैशेषिक के अनुसार मोक्ष अभावात्मक है तदनुसार मुक्ति में सुख और दुःख दोनों का ही अभाव रहता है। वेदान्त का मोक्ष आनन्द स्वरूप है।

---

१. शा०दी०, पृ० २१३, सम्पादित डॉ० किशोरदास द्वारा
२. बृहती 7 पृ० १०९
३. पञ्चिका (बृहती, पृ० १०९)
४. तं०र०, पृ० २०
५. तत्तु तद्व्यञ्जकम् – तत्रैव प्रतीतेः। तं०र०, पृ० 20
६. ननु भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यमिति चेत्, न। प्रतीति वैलक्षण्यात्। तस्मात्पृथक्तत्वन्तरम्। तं०र०, पृ० २०

प्रभाकर और मोक्ष

प्रभाकर परम्परा में दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष है।[१] प्रकरणपञ्चिकाकार ने इसे सांसारिक दुःखों के उपशमन को ही पुरुषार्थ कहा है।[२] मोक्षस्तु सांसारिक दुःखोपशमात्पुरुषार्थ इति पुष्कलम्।

ग्रन्थकार के अनुसार मोक्ष एक विलक्षण पुरुषार्थ

रामानुजाचार्य ने मोक्ष को एक विलक्षण पुरुषार्थ कहा है क्योंकि इसमें समस्त दुःखों का उच्छेद हो जाता है[३]- 'मोक्षोऽपि सकलदुःखोच्छेदरूपतया विलक्षणः पुरुषार्थः' अब यहाँ शंका होती है कि पुरुषार्थ और विलक्षण पुरुषार्थ में क्या अन्तर है? विलक्षण पुरुषार्थ का अभिप्राय यह है कि मोक्ष में सुखों का भी उच्छेद हो जाता है क्योंकि प्राभाकराचार्यों के अनुसार विवेकियों के लिए सांसारिक सुख भी दुःख मिश्रित है[४] अतः मोक्ष में सुख और दुःख दोनों का ही उच्छेद होने से ग्रन्थकार ने इसे विलक्षण पुरुषार्थ कहा है।

शालिकनाथ ने भी इस तथ्य का विवेचन करते हुए लिखा है - तदनुसार दुःखों का ही उपरम हो जाना परम-पुरुषार्थ कहा जाना अनुचित है और सुखों का उच्छेद हो जाना अपुरुषार्थ रूप है - यह कहना भी ठीक नहीं - अपितु सांसारिक सुख भी दुःख कवलित होने से विवेकियों के लिए आदरणीय नहीं हैं अतः दोनों का ही अभाव पुरुषार्थ है[५], यह समझना चाहिए।

ज्ञान-कर्म समायोजन

मानव को मुक्ति दिलाने के लिए ज्ञान और कर्म - इन दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। ग्रन्थकार ने विशेष रूप से तो मोक्ष प्राप्ति श्रुति

---

१. दुःखनिवृत्तिरेवमोक्ष इति स्वमतवर्णनम्। प्र०पं०, पृ० ३३४
२. प्र०पं०, पृ० ३३४
३. तं०र०, पृ० २१
४. यतः सांसारिकं सुखं विवेकिनस्साधन-परतन्त्रलक्षणतया क्षयितालक्षणतया च दुःख कवलितं दुःखमेवेति। प्र०पं०, पृ० ३३५
५. प्र०पं०, पृ० ३३४-३५ (बनारस हिन्दू वि०वि० प्रकाशन)

विहित आत्मज्ञान से ही मानी है।[१] परन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक वह कर्म क्षेत्र में जूझता रहता है – इस प्रकार मनुष्य का जीवन ज्ञान के द्वारा मोक्षाधिकारी और कर्म के द्वारा कर्माधिकारी के रूप में विभक्त हो जाता है।[२]

मोक्षाधिकारी – उसके साधन

ग्रन्थकार रामानुजाचार्य के अनुसार जब व्यक्ति क्षणभंगुर संसार के क्षणिक सुखों को प्राप्त कराने वाले विविध श्रमों से विरक्त हो जाता है तथा सकलदु:खों को नष्ट करने की कामना वाला हो जाता है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है।[३] शालिकनाथ मिश्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करता हुआ – केवल शम-दम ब्रह्मचर्यादि नैमित्तिक कार्यों का अनुष्ठान करता हुआ – आत्मा के ज्ञान की तरफ अभिमुख होता है- अपूर्व रूप धर्म और अधर्म का उपभोग द्वारा क्षय होने पर श्रुति के अनुसार – 'न स पुनरावर्तते'[४] वह छूट जाता है फिर लौटता नहीं।[५]

मोक्षाधिकारी का मुख्य साधन ज्ञान

ग्रन्थकार के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति का सर्वप्रमुख साधन ज्ञान है। बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद को उद्धृत करते हुए श्रवण-मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मा दर्शन करने का ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[६] आत्मवेता दु:ख सागर को तर जाता है।[७]

जो मोक्षप्रापक ज्ञान से विमुख है वह परिशेषत: कर्माधिकारी होता है। ज्ञान प्राप्ति में भी कर्म का बहुत बड़ा योगदान है क्योंकि ज्ञान प्राप्ति पापों

---

१. तत्प्राप्तिस्तु ..... श्रुतिविहितादात्मज्ञानात्। तं०र०, पृ० २१

२. विनश्वरविविध ..... तदधिकारी ..... इतरस्तु कर्माधिकारी। वही, पृ० २१

३. विनश्वरविविधपुरुषार्थ विरक्तस्सकलदु: खध्वंसकाम: तदधिकारी। वही, पृ० २१

४. प्र०पं०, पृ० ३४१ पर (छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ८ से उद्धृत)

५. स्वमतेनमोक्षतत्साधन निरूपणम्। प्र०पं०, पृ० ३४१

६. आत्मा वा रे द्रष्टव्य: श्रीतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। तं०र०, पृ० २१, छां० २.३.४ से उद्धृत

७. तरतिशोकमात्मवित्।

के क्षय से होती है और पापों का क्षय कर्मानुष्ठान के विना सम्भव नहीं।[१] कर्म प्रधान मनुष्यों के लिए ही कर्म काण्ड के शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है और मोक्ष शास्त्रों की प्रवृत्ति मोक्षाधिकारियों के लिए है।[२] इस प्रकार - जैसे दोनों पंखों से पक्षी की आकाश में गति होती है उसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर ही मनुष्य को मुक्ति दिलाते हैं - कहा भी है[३] -

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा रवे पक्षिणां गतिः।
तथा वै ज्ञानकर्मभ्यां नराणां मुक्तिरिष्यते॥

मोक्ष विषयक इतर मतों का प्राभाकरों द्वारा निरसन

अद्वैत वेदान्ती प्रपञ्च-विलय को मोक्ष मानते हैं - उनके अनुसार अविद्या के नष्ट होने पर अविद्या जन्य संसार-प्रपञ्च भी नहीं रहता। इनका मोक्ष आनन्द स्वरूप है। कुमारिल अनुयायी शा०दी० कार कहते हैं कि - प्रपञ्चमात्र का ही विलय नहीं होता अपितु प्रपञ्च से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है शेष संसार वैसे ही बना रहता है।[४] इन दोनों मतों का निरसन करते हुए शालिकनाथ मिश्र कहते हैं कि अविद्या या भ्रम है ही नहीं तो उसका उच्छेद कैसा? अतो नाविद्यास्तमयोमोक्षः।[५] इसी प्रकार श्रुतियाँ सिद्ध वस्तु की बोधक न होने से तथा कोई प्रमाण के न होने से मोक्ष आनन्द स्वरूप भी नहीं - 'परमानन्दाभ्युपगमोऽपिमन्दफल एव।'[६]

उपसंहार

इस प्रकार प्रभाकर मत में सम्पूर्ण प्रमेय समूह पाँच कोशों में समाया हुआ है[७] - वे कोश ये हैं - १. भोक्ता, २. भोगायतन, ३. भोगसाधन, ४.

---

१. तच्चज्ञानं पापक्षयात् ..... स च कर्मानुष्ठानादिति। वे०प०, पृ० ३५८
२. तं०र०, पृ० २१, प्रमेय परिज्ञानमुभयथाऽपि सप्रयोनजम्। पृ० ३५८
३. प्र०पं०, पृ० ३४१ - टिप्पणी - ३ (द्वेघा हि समुच्चयो भवति इत्यादि)
४. शा०दी०, पृ० २६३-६४
५. प्र०पं०, पृ० ३४०
६. वही, पृ० ३३५
७. तं०र०, पृ० २०-२१

भोग्य और ५. भुक्ति। आत्मा भोक्ता है। शरीर भोगायतन है। इन्द्रियाँ भोग साधन हैं। भोग्य भी दो प्रकार के हैं - बाह्य भोग्य पृथिवी और आन्तर भोग्य सुखादि हैं सुखदुःख की अनुभूति भुक्ति है। पुण्यापुण्य क्षीण होने पर आत्यन्तिक 'देह का उच्छेद होना ही - मोक्ष कहलाता है।'[१] प्रमेयज्ञान ज्ञानी और कर्मशील दोनों के लिए ही सप्रयोजन है।

१. आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निश्शेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति युक्तम् ..... व्यपगत देहेन्द्रियसम्बन्धस्समुत्खातनिखिलसांसारिकदुःखानुबन्धो मुक्त इत्युच्यते। प्र०पं०, पृ० ३४१

तृतीय अध्याय
शास्त्र-रहस्य

शब्दप्रमाण लक्षण

शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने वाला पदसमूह शाब्द-प्रमाण कहलाता है।[१] शबर ने शब्द ज्ञान से प्रमाणान्तरों से अप्रतीत अर्थ का ज्ञान ही 'शास्त्र' कहा है।[२] रामानुज ने भी प्रत्यक्षादि से अप्रतीत अर्थ को ही शास्त्र कहा है- और वह शास्त्र ही - 'शब्द प्रमाण' है।[३] यह शब्द रूप शास्त्र लौकिक वचनों से विलक्षण है। लौकिक वचन तो प्रमाणान्तरों से भी ज्ञात हो जाते हैं- इसलिए अनुमान रूप हैं- इन्हें शास्त्र नहीं कहा जा सकता। महर्षि जैमिनी ने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना है।[४] रामानुज ने भी शब्द और अर्थ को वाच्यवाचक अथवा ज्ञाप्यज्ञापक सम्बन्ध से युक्त बताते हुए इनकी नित्यता और अपौरुषेयता का प्रतिपादन किया है।[५] रामानुज 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इस मीमांसा सूत्र को उद्धृत करके औत्पत्तिक का अर्थ - स्वाभाविक, अपौरुषेय और नित्य- इस प्रकार किया है - तदनुसार वर्ण नित्य हैं और अर्थ भी प्रवाह से नित्य हैं अतः सम्बन्ध अपौरुषेय है।

अब उच्चारण के बाद नष्ट हो जाने से वर्ण नित्यत्व के विषय में शंका उठती है। प्रयत्न से प्रेरित कोष्ठगत वायु नाभि, हृदय, कण्ठ, सिर, जिह्वा, नासिका, दन्त और औष्ठादि में विभक्ति होकर वर्णों की उत्पत्ति होती है- जो सर्वमान्य है। ये वर्ण श्रौत्र-प्रदेश से संयुक्त होकर ज्ञात होते हैं।

---

१. सम्बन्धग्रहणवशेनार्थप्रत्यायकं पदजातं शाब्दम्। तदेव प्रत्यक्षाद्यसन्निकृष्टार्थं शास्त्रम्। तं०र०, पृ० २३
२. शा०मा० १-१-५ जै०सू०
३. शब्दज्ञानसापेक्षादात्मनः सन्निकर्षादसन्निकृष्टार्थविषयं ज्ञानं तच्छास्त्रं नाम प्रमाणम्। तं०र०, पृ० २२
४. जैमिनीसूत्र १-१-५
५. तं०र०, पृ० २२

क्या शब्द प्रयत्न से उत्पाद्य है? (पूर्व पक्ष)

पूर्वपक्षानुसार प्रयत्न-वर्ण या शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं - उत्पादक होता है क्योंकि अभिव्यक्ति तीन प्रकार से हो सकती है - १. आवरण के हटने से, २. इन्द्रिय संस्कार से, ३. और विषय संस्कार से। इन तीनों का अभाव होने से प्रयत्न से शब्द उत्पन्न ही होते हैं- अभिव्यक्त नहीं होते। इस बात को स्पष्टतः इस प्रकार समझ सकते हैं कि शब्द और कर्णेन्द्रिय के बीच कोई कुड्यादि आवरण नहीं होता। इन्द्रिय-संस्कार कोष्ठ्य वायु की सम्प्राप्ति मात्र है- इसी प्रकार विषय-संस्कार भी विषय का ही धर्म है- अतः ये तीनों बातें उत्पत्ति के पक्ष में जाती हैं।[१] इसके अतिरिक्त प्रयत्न से वर्ण या शब्द की अभिव्यक्ति मानने पर एक ही प्रयत्न से सारे शब्दों की अभिव्यक्ति होने लगेगी - क्योंकि जो शब्द समानेन्द्रिय से ग्राह्य है उसके लिए व्यञ्जक के भेदों की भी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे दीपक से व्यक्त घटादि अनेक दीपकों की अपेक्षा नहीं रखते अपितु एक ही दीपक अनेक घटों की अभिव्यक्ति एक साथ करा देता है। इसके अतिरिक्त वक्तृभेद से एक ही ककारादि का नाना प्रकार से सुनाई पड़ना, प्राच्य शब्द - प्रतीच्य शब्द - इत्यादि व्यवहार का होना - उत्पन्न होने वाले में ही चल सकते हैं अतः 'अनित्यश्शब्दः अनभिव्यञ्जक-प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, घटवदिति' - इस अनुमान वाक्य के आधार पर पूर्वपक्ष में शब्द अनित्य सिद्ध किया है।[२]

पूर्वपक्ष खण्डन

यह वही 'गकार' है, यह वही पद है - इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर शब्द में सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा के द्वारा नित्यता ही ज्ञात होती है यदि इस प्रत्यभिज्ञा को नैयायिक प्रभृति केश कटने के बाद उसे केशों को 'ये वे ही बाल है' की प्रतीति के समान यदि समझें - तो यह ठीक नहीं - क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में सर्वत्र बाध नहीं होता है। यदि कहीं पर प्रत्यभिज्ञा

१. तं०र०, पृ० २३

२. तं०र०, पृ० २३ - पूर्वपक्ष विवेचन

व्यभिचरित भी हो गई तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वत्र ही संशय बना रहे? क्योंकि संशयालु की सर्वत्र अधोगति ही होती है।[१] 'यह वही गकार है' इत्यादि में भेदाग्रह से रहित ही प्रत्यभिज्ञा है क्योंकि सादृश्य का आगे चलकर बाध नहीं होता। ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि प्रथम तो यह वही गकार है और बाद में यह तो वही गकार नहीं उसके सदृश दूसरा गकार हे। ज्वाला प्रत्यभिज्ञा में भी कारण ज्ञात होने से भेद स्पष्ट है।[२] इसको स्पष्ट करते हुए रामानुज कहते हैं कि प्रथम ज्वाला के निःसृत (व्याप्त) हुए बिना प्रकाश कमरे में नहीं फैल सकता अतः प्रथम तो नष्ट हो चुकी होती है उसके बाद दूसरी ज्वाला भी प्रकाश के रूप में व्याप्त हो जाती है। इस तरह क्रमशः ज्वालाएँ उद्भूत और नष्ट होती रहती हैं - ये ज्वालाएँ सदृश होती हुई भी भिन्न-भिन्न हैं, यदि कोई प्रथम ज्वाला के सदृश होने से दूसरी को भी यह कहे कि - **'यह तो वही है' रामानुज कहते हैं कि[३] यह उचित नहीं क्योंकि युक्ति से बाधा दृष्टिगत नहीं होती।**

रामानुज द्वारा पूर्वपक्ष के अनुमान में दोष

पूर्वपक्ष की ओर से शब्द-अनित्यता प्रतिपादक अनुमान का हेतु 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' था और इस विशेष्यभूत हेतु का विशेषण 'अनभिव्यञ्जकत्व' है। वायु का संयोग नष्ट होने के बाद शब्द का ज्ञात होना भी बन्द हो जाता है - इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण का व्यञ्जक भी भिन्न है इसलिए सब शब्दों की एक साथ ज्ञात होने की स्थिति भी नहीं आ सकती। जब वर्ण व्यञ्जकत्व भेद से युक्त हैं- ऐसा युक्ति से सिद्ध है फिर 'अनभिव्यञ्जकत्व' यह पूर्वपक्ष के अनुमान में हेतु का विशेषण कैसे सिद्ध हो सकता है? अतः उक्त अनुमान में विशेषणासिद्ध हेत्वाभास होने से वह उचित नहीं है। शब्दोत्पत्ति वाले जिसे कारक-भेद कहते हैं रामानुज की दृष्टि में वही व्यञ्जक-भेद हैं।[४]

१. उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम्।
स सर्व-व्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति।। स०द० संग्रह, द्र० - जैमिनीदर्शनप्रकरणे
२. तं०र०, पृ० २३
३. तं०र०, पृ. २३
४. तं०र० (शा०परि०), पृ० २३

प्रयत्न वर्णों का अभिव्यञ्जक-सिद्धान्तपक्ष

रामानुज के अनुसार शब्द प्रयत्न से अभिव्यंग्य है क्योंकि वह उससे उत्पन्न नहीं होता और उसके बाद भी वह उपलब्ध होता है। जो जिससे उत्पाद्य न होकर बाद में भी रहता है वह उससे अभिव्यक्त माना जाता है- जैसे - दीपक से घट उत्पन्न नहीं होता और दीपक के न रहने पर वह नष्ट भी नहीं हो जाता है - अतः घट प्रदीप से अभिव्यंग्य माना जाता है। यहाँ पर 'अनुत्पत्ति' शब्द की उपलब्धि रूप हेतु का विशेषण भी असिद्ध नहीं है क्योंकि उससे व्यञ्जकत्व सिद्ध होता है।[१]

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि वर्ण यदि प्रयत्न से अभिव्यक्त होते हैं तब प्रयत्नों के भेदों की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए क्योंकि समानेन्द्रिय-ग्राह्यों के लिए प्रयत्न भेदों की अपेक्षा नहीं रहती? यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि समानेन्द्रियग्राह्यों में भी प्रयत्न भेद से अभिव्यक्ति देखी जाती है- शुक्लनीलादि समानेन्द्रियग्राह्यों में भी स्पष्ट आलोक की अभिव्यक्ति देखी जाती है - इसी प्रकार थोड़ी सी लार से शक्कर के माधुर्य की, सक्तू और चिउड़ा में ज्यादा माधुर्य की, केशर की सुगन्ध की गोघृत में, मोथे की सुगन्ध उसके तेल में, और गर्मी से दग्ध पृथिवी की गन्ध जल में - अभिव्यक्त होती है। तीव्रमन्दादितारतम्य भी प्रयत्नाभिव्यक्ति से ही तारतम्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे प्रदीप के प्रकाश के तारतम्य से रूपोलब्धि का भी तारतम्य बना रहता है - वैसे ही एक ही वर्ण की वक्तृ-भेद से नानाभावोपलब्धि भी उस वक्ता से समुद्भूत होती हुई परस्पर निरपेक्ष विलक्षण श्रौत्र संस्कर को प्रारम्भ करती हुई अभिव्यञ्जक कोष्ठ्य हवा से नानात्व के रूप में उत्पन्न होती है। प्रत्यभिज्ञा के बल से उसमें स्थायित्व और ऐक्य की स्थिति बनती है - यथा - 'सोऽयं वर्णः यः तस्य मुखाच्छ्रुतः' इत्यादि।

---

१. शब्दः प्रयत्नाभिव्यङ्ग्यः, तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपलब्धेः।
यो यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलभ्यते स तदभिव्यङ्ग्यः। यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घटः। तं०र० (शा०परि०), पृ० २३

इसी प्रकार रोग रहित अनेक नेत्रों में चन्द्रमा का नानात्व दिखाई पड़ता है इसी प्रकार 'प्राच्य: शब्द:' इत्यादि व्यवहार भी व्यञ्जक (वक्ता) के देश की अपेक्षा से होता है। इसी प्रकार ह्रस्वदीर्घ आदि प्रतीति भी अभिव्यञ्जक की वृद्धि और ह्रास के कारण ही होती है। अनुकूल हवा होने पर शब्द दूर तक सुनाई पड़ता है और प्रतिकूल होने पर पास से भी नहीं सुनाई पड़ता।

वस्तुत: वो शब्द के मूल में नाद ही है - यह नाद ही ध्वनि है- जो ऊँचा नीचा - ह्रस्वदीर्घ आदि अनन्द भेदों वाला है। प्रयत्न भेद से यह वृद्धि नाद की ही है शब्द की नहीं। भाष्यकार शबर ने भी ऐसा ही माना है।[१] एक बात यह भी है कि यदि 'गकार' पहले वाला यदि न होता तो 'चैत्र ने दस गकारों का उच्चारण किया' यह व्यवहार होना चाहिए जबकि होता यह है कि चैत्र ने एक गकार का दस बार उच्चारण किया।[२]

प्रत्यभिज्ञा : समस्या एवं समाधान

स्फटिकमणि को एक बार देखने पर पुन: कालान्तर में संयोग वश जब उसे देखा जाता है तब उस पूर्व-प्रतीति के संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने पर ज्ञान की करण चक्षु 'यह वही स्फटिक मणि है' ऐसी प्रतीति को ग्रहण करती है। परन्तु शब्दज्ञान में वर्णाभिव्यक्ति क्षणिक् होने से और व्यञ्जक व्यापार की उपरति हो जाने से श्रौत्र के रहने पर भी प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती?

रामानुज सम्मत प्रत्यभिज्ञा

कार्य से ही कारण का अनुमान होता है। यहाँ पर अभिव्यक्ति संस्कारों की उद्‌बोधिका नहीं है अपितु अदृष्ट कारण वश उस संस्कार के उद्‌बुद्ध होने पर प्रथम अभिव्यक्ति ही प्रत्यभिज्ञान के रूप में परिणत होती है।[३] यथा - भयंकर अन्धकार में क्षण भर के लिए चमकने वाली विद्युत् से चिरपरिचित वस्तु में भी पहली बार में ही प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। अत:

---

१. नाद वृद्धि: परा १-१-१७ जै०सू० (शा०भा०)

२. स०द०सं०, पृ० ४७३, चौखम्बा विद्या भवन (तृतीय संस्करण)

३. नावश्यं तद्‌ग्रहणैव तत्संस्कार प्रबोधनम्।
तेन हेत्वन्तरोद्‌बुद्धात् संस्कारात्तद् ग्रहोदय:।। प्र०पं०, (न्या०शु०), पृ० ३६१

शब्द नित्य है। वायु संयोग द्वारा अभिव्यक्ति सापेक्ष है। विज्ञान भी यही मानकर चलता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रकरणपञ्चिका के 'न्यायशुद्धि' प्रकरण में किया गया है।[१] इस प्रकार वर्णों के अनादि होने से शब्द का अर्थ भी प्रवाह से अनादि है। अनादि होने से - ये अपौरुषेय है।[२] विमलाञ्जनप्रकरण में इन्हें अपौरुषेय सिद्ध किया है।[३] न्यायवैशेषिक के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है।[४] न्यायमञ्जरीकार ने वेदों के कर्त्ता उस ईश्वर को कोई ऐसा वैसा पुरुष नहीं बताया अपितु तीनों लोकों का निर्माता और क्लेशकर्मादि से रहित पुरुष - विशेष कहा है। प्राणियों का पिता की तरह अनुग्रह करने वाले परम कारुणिक भगवान ही वेद ज्ञान का निमित्त कारण होने से इन्होंने वेदों को पौरुषेय (पुरुष विशेष निमित्तक) माना है।[५] उदयन ने तो[६] ईश्वर की सिद्धि में ९ हेतु दिये हैं और अनुमान द्वारा ईश्वर को सिद्ध किया है। अन्यत्र - न्यायसूत्रों और वात्स्यायन-भाष्य में भी ईश्वर का अनेक बार जिक्र आया है। मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते हैं इनके अनुसार वेद स्वयं-प्रकाश स्वरूप है और स्वतः प्रमाण है। प्राभकर मीमांसक वृद्ध-व्यवहार के आधार पर वेदों को अनादि मानते हैं। इनके अनुसार शब्द-संकेत-ग्रह व्यवहार से होता है।[७]

१. तस्माद्वर्णाः नित्याः। एतच्च सर्वं न्यायशुद्धौ प्रपञ्चितम्।। तं०र०, पृ० २४

२. इत्थं वर्णानां नित्यत्वात् अर्थस्य च प्रवाहरूपेण नित्यत्वात्तत्सम्बन्धस्यानादितया अपौरुषेयत्वम्। तं०र०, पृ० २४

३. प्र०पं० (विमलाञ्जन प्रकरण), पृ० ३०४
द्र०- औत्पतिकस्तु सम्बन्धश्शब्दस्यार्थेन सम्मतः।
वृद्ध-व्यवहारस्य प्रवाहानादिता यतः।।

४. वा०मा०, न्या०सू० ४-१-२१

५. कर्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्ति-कर्म-प्रपञ्चपरिपाकविचित्रताज्ञः। विश्वात्मना तदुपदेशपराः प्रणीतास्तैनैव वेदरचना इति युक्तमेतत्।। न्या०मं०, प्र०प्र०, पृ० २२०
वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः।
किंतु त्रैलोक्य-निर्माण-निपुणः परमेश्वरः।।
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः।
क्लेशकर्मविपाकादि-परामर्श विवर्जितः।। न्या०मं०, प्र०प्र०, पृ० १७५

६. न्या०कु०, पं०स्त० कारिका-।

७. अपौरुषेय-सम्बन्धे सिद्धेशब्दार्थयोर्द्वयोः
प्रामाण्यं वेदवाक्यानामिति सप्रतिपाद्यते।। प्र०पं० विमला०, पृ० ३०१

वृद्ध व्यवहार से शब्दार्थ-सम्बन्ध अनादि एवं अपौरुषेय

रामानुज के अनुसार अब के वृद्ध-व्यवहार से आजकल के जिज्ञासुओं को शब्द-संकेत-ग्रह हो जाता है, इससे पूर्व वे वृद्धों के व्यवहार से पूर्व वाले जिज्ञासुओं को और उससे पूर्व वालों को उस काल के वृद्ध व्यवहार से - इस प्रकार शब्दार्थ परम्परा के अनादि होने से[१] शब्दार्थ सम्बन्ध भी अनादि है।

शब्द को अनित्य मानने पर व्युत्पत्ति नहीं बन सकेगी। वाच्यवाचक-सम्बन्ध ग्रहण रूप व्युत्पत्ति वृद्धव्यवहार पर ही निर्भर है। कौन शब्द किस अर्थ का वाचक है? यह शक्तिग्रह रामानुज ने बार-बार प्रयोगदर्शन से ही माना है। 'पुस्तक दो!' किसी के यह कहने पर पास में खड़ा हुआ बालक भी समझ जाता है कि पुस्तक शब्द का वाच्य क्या है? कालान्तर में जब इस प्रकार का प्रयोग होगा तो वह बालक पुस्तक शब्द को सुनते ही उसके वाच्य को झटिति समझ जायेगा और मंगवाने पर लाकर दे देगा - इस प्रकार शब्दों की अपने-अपने अर्थों के अवधारणा की शक्ति का ग्रहण आवाप और उद्वाप से बार-बार के प्रयोग को देखने से होता है। यदि शब्द को उच्चारण पर्यन्त ही माना जायेगा तब इस प्रकार का पुनः प्रयोग दर्शन नहीं हो सकेगा - यह प्रक्रिया तो शब्द की नित्यता पर ही आधारित है - अतः शब्द को नित्य मानना इसकी व्युत्पत्ति की सार्थकता की दृष्टि से भी सप्रयोजन है।[२]

नैयायिक सम्मत शब्दार्थ सम्बन्ध

नैयायिक मत में वर्ण तो उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं लेकिन उसके संस्कार अनादि काल तक चलते रहते हैं। प्रलय के बाद सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर कृपावान् भगवान् ने अयोनिज पुरुषविशेषों का मन से ही निर्माण करके भोगोपकरण तथा भूत-भौतिक-संघात को रचकर उन-उन पदार्थों के विषय में अमुक शब्द का यह अर्थ है और

१. तं०र०, शा०परि०, पृ० २५
२. तं०र०, शा०परि०, पृ० २४

अमुक का यह - इत्यादि संकेत देकर वेदों का आविष्कार करके उन्हें वेदोपदेश दिया था अतः वेद पौरुषेय हैं और सम्बन्ध भी पौरुषेय हैं[१] - यह पूर्वपक्ष है।

नैयायिक मत-खण्डन

रामानुज कहते हैं कि उक्त नैयायिक मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सृष्टि और विनाश क्रमशः होते हैं। एक साथ सब वस्तुओं की उत्पत्ति अथवा विनाश में कोई प्रमाण नहीं है।[२]

यदि समस्त चराचर जगत का एक साथ ध्वंस होगा तो फिर सृष्टि रचना में विषमता नहीं होनी चाहिए। तथा नैयायिक यदि 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्।' न द्यौरासीत्, इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत करें तो - ये वाक्य स्वतन्त्र रूप से अर्थ के द्योतक नहीं है, ये तो अर्थवाद के रूप में विधि शेषभूत है क्योंकि प्रभाकर मत में सम्पूर्ण वेद-वाक्य अनुष्ठेयअर्थ में प्रयुक्त है।[३] यही नैयायिक 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' इस अनुमान से सृष्टि रचना मानते हैं तब बिना शरीरिकक्रिया के कार्य कैसे माना जा सकता है? यदि ईश्वर की शरीरी के रूप में कल्पना की जाये तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता और शरीर के बिना कर्तृत्व सम्भव नहीं। रामानुज के अनुसार योनिज सृष्टि को देखते हुए अयोनिज पुरुष-परम्परा का होना भी मीमांसकों के लिए असम्भव सा लगता है।[४] अतः प्रभाकर परम्परा में सृष्टिकर्ता अथवा वेदकर्त्ता - ईश्वर को न मानकर वेदों को अपौरुषेय ही बताया है। शालिकनाथ ने भी ऐसा ही माना है।[५]

---

१. तं०र०, शा०परि०, पृ० २४
२. नैतत्सारम्-स्यातां नाम-क्रमेण कार्यवर्गस्य सृष्टि-विनाशौ। यौगपद्ये तु प्रमाणं न पश्यामः। तं०र०, पृ० २५
३. तं०र०, शा०परि०, पृ० २५, प्र०पं० विमलाञ्जन प्रकरण, पृ० ३१०
४. वही, पृ० ३१०
५. कथमपौरुषेयत्वं वेदानाम्? उच्यते - कर्तुरस्मरणात्। न चानुमानमपि कर्तुरुपपद्यते ....। प्र०पं० विमला प्र०, पृ० ३१०

पद से पदार्थ एवं वाक्यार्थ प्रतीति

वैयाकरण सम्मत मत

पदों से पदार्थ या वाक्यार्थ प्रतीति में वैयाकरणों का मत इस प्रकार है – 'क्रमशः शीघ्र तिरोहित होने वाले वर्णों द्वारा एक-एक करके अथवा सामूहिक रूप से पदार्थ या वाक्यार्थ प्रतीति के असम्भव होने से उन पर वर्णों के व्यंग्य एवं प्रत्यस्तमित वर्ण विभाग वाला – पद, वाक्य और शब्दों के रूप में 'स्फोट' नामक तत्त्व ही पदार्थ या वाक्यार्थ का मूलभूत है।'[१]

इस प्रकार एक-एक वर्ण के ग्रहण से अर्थप्रतीति नहीं हो सकती और एक साथ वर्णों के ग्रहण का तो प्रश्न ही नहीं उठता – क्योंकि वे शीघ्र तिरोहित हो जाते हैं अतः नियतक्रम से कुछ वर्णों से पदों की अभिव्यक्ति होती है और उसके बाद वैसे ही वाक्य की अभिव्यक्ति होती है और इसके बाद ही पद और वाक्य का विभाग उत्पन्न होता है– यह वैयाकरण मत है।[२] वैयाकरणों में भी भर्तृहरि प्रभृति आचार्यों ने पद वाक्य विभाग से अतिरिक्त इस अखण्ड एक स्फोट रूप शब्द तत्त्व को ही वास्तविक कहा है– पद वाक्य विभाग तो काल्पनिक है।[३] कुछ इसे अतीन्द्रिय कहते हैं और किन्हीं के मत में श्रौत्र ग्राह्य है।

पुनः शंका होती है कि वन के स्थान पर 'नव' और 'नदी' के स्थान पर 'दीन' का प्रयोग होने पर उन्हीं वर्णों के रहते पद और उनके अर्थ बदल जाते हैं अतः वर्ण ही पद हैं – यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात वर्णों का देशकाल का भी क्रम नहीं बन सकता। वर्णों को ही पद, वाक्य आदि मानने पर – क्रमभेद, वक्तृभेद और विलम्बोच्चारण के समय भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।[४]

---

१. तं०र० (शा०परि०), पृ० २५-२६ पद प्रदर्शित वैयाकरण मत

२. वही, पृ० २५-२६

३. पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। वा०प० १/७३

४. तं०र० (पूर्वपक्ष), पृ० २६

जिन वर्णों से शब्दतत्त्व विषय का ज्ञान कराने वाला होता है उन्हीं से उस शब्द का विषय के प्रतिवाचकत्व होता है अतिरिक्त प्रयोग कल्पना गौरव है। नदी-दीन-आदि में भी जो प्रतीति भेद है वह क्रमभेद से है। उच्चारण क्रमभेद से ही बुद्धियाँ भी भिन्न हो जाती हैं और भावनाख्य संस्कारों के प्रभावित होने से स्मृति भी विलक्षण हो जाती है। इस प्रतीति परम्परा के क्रमशः होने पर वर्ण भी क्रम वाले ज्ञात होते हैं। अतः एक मुख से उच्चरित नैरन्तर्य से युक्त एवं पूर्वापर की क्रम परम्परा से युक्त स्वरविशेष वाले वर्ण ही पद हैं और तभी अर्थ का ज्ञान भी हो सकता है।[१] ग्रन्थकार के अनुसार वर्णों का एक साथ ग्रहण होना भी असम्भव नहीं है- लेकिन वैयाकरण इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है। ग्रन्थकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्रमानुसार सुने गये वर्णों की उसी क्रम से स्मृति बने रहने पर युगपत् ग्रहण हो सकता है। जैसे- 'पञ्चप्रयाजा मयानुष्ठिताः। गोदावर्यां महानद्यां शतवारं स्नातोऽहम्' इत्यादि प्रयोगों में हम देखते हैं।[२]

अतीन्द्रियवादियों के मत का खण्डन

रामानुज शब्द को अतीन्द्रिय मानने वालों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे तो अर्थ प्रतीति अन्यथा होने लगेगी और अतिप्रसंग भी होने लगेगा। फिर बिना इन्द्रियों (विकलेन्द्रिय) वालों को भी शब्दप्रतीति होने लगेगी। ऐसे शब्द का नित्यत्व अथवा अनित्यत्व आदि कोई स्वरूप ही नहीं बन पायेगा। उस अतन्द्रिय शब्द के लिए यदि वर्णों की उपपन्नता मानी जाये तो वह भी व्यर्थ है और वर्णों से शब्द की अभिव्यक्ति मानी जायेगी, तो भी शब्द अतन्द्रिय कहाँ रहा? उसका तो प्रत्यक्षत्व होने लगेगा। यदि वृद्ध व्यवहार से आवाप-उद्वाप से शक्तिग्रह मानकर व्युत्पत्ति मानें तब जिस अंश में आवापोद्वाप होगा वहीं पर उसकी व्युत्पत्ति होगी - अखण्डता तो फिर भी

१. तं०र० (पूर्वपक्ष), पृ० २६
२. तं०र०, पृ० २६

नहीं रही। यदि वहाँ पर पदविभाग करके व्युत्पत्ति की जाये तो वह भी ठीक नहीं उसमें भी गौरव होगा। यह नियम है कि नियतक्रम वाले वर्ण ही पद होते हैं - इसी आधार पर वाक्य और उसकी व्युत्पत्ति समझनी चाहिए। अतः वर्णों के अतिरिक्त कोई और अतीन्द्रिय शब्द तत्त्व नहीं। जिसे प्रत्यक्षानुमानादि से जाना जा सके।[१]

नैयायिक मत

नैयायिक प्रत्येक वर्ण में वाचकत्व मानने पर अतिव्याप्ति दोष ठहराते हैं। उनके अनुसार 'देवदत्त' में 'दे' का उच्चारण करने के बाद 'व' का उच्चारण करते समय - इसकी वाचकता अलग से नहीं मानी जायेगी- यदि ऐसा माना गया तब तो अन्य वर्णों की वाचकता में भी यह स्थिति आने से अतिप्रसंग होगा।[२] पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण ही पदार्थ का वाचक है और इसी प्रकार पूर्व पदार्थ के अनुभव से जनित संस्कार के साथ अन्तिम पद ही वाक्यार्थ है।[३]

'पूर्ववर्णजनित संस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः' इत्यादि द्वारा शाबर भाष्य में भी वाक्यार्थ का प्रत्यायक अन्त्य वर्ण ही है।[४]

रामानुज कृत खण्डन

रामानुज की दृष्टि में पदार्थ ज्ञान में अन्त्य वर्ण वाचक नहीं बन सकता क्योंकि ऐसा मानने से तो अर्थ प्रतीति उल्टे प्रकार से होने लगेगी। रामानुज को इस बात पर भी विश्वास है कि क्रमशः सुने हुए वर्णों को स्मरण रखने पर एक साथ भी प्रतीति हो सकती है।[५] दूसरी तरफ शालिक नाथ उक्त-शबर की मान्यता का निरास करते समय यह कहते हैं कि

१. तं०र०, पृ० २६-२७
२. वही, पृ० २७
३. तर्क भाषा, पृ० ११० (पद लक्षणे)
४. शा०भा० १-१-५
५. न च युगपदग्रहणासम्भवः। क्रमेण श्रुतानामपि तेषां तेनेव क्रमेण पश्चात् स्मृति-विषयत्वसम्भवात्। तं०र०, पृ० २६

महावाक्य का एक साथ याद रखना संभव नहीं है।[१] अतः पदों में ही वाचकत्व शक्ति मानी जानी चाहिए इस प्रकार रामानुज और शालिकनाथ में यहाँ किञ्चित् मतभेद है।

रामानुज की दृष्टि में यद्यपि पद पदार्थ विभाग सत्य है तथापि व्युत्पत्ति यत्न से उत्पाद्य है अन्त्य वर्ण पद नहीं बन सकता। इसी प्रकार अन्त्य पद से वाक्यार्थ व्युत्पत्ति भी संभव नहीं क्योंकि अन्त्यवर्ण में वाक्यत्व का अभाव है।[२]

उदयनाचार्य प्रभृति पुरातन नैयायिकों के बाद १३वीं-१४वीं शती में गङ्गेश उपाध्याय से नव्यन्याय परम्परा शुरू मानी जाती है। 'अत्रनव्यास्तु' द्वारा रामानुज का इन्हीं की ओर संकेत है। नव्यनैयायिक तथा कुछ भाट्टों के मत में - पद अथवा पदों के द्वारा स्मारित जो पदार्थ है - वे ही आकांक्षा आदि से युक्त होकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[३] रामानुज की दृष्टि में यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यार्थ बोध के लिए एक और शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी - जो कि कल्पनागौरव है।[४] पदों में अपना-अपना अर्थ प्रकट करने की शक्ति है और उन पदार्थों में वाक्यार्थ-बोधनशक्ति है। शब्द से भिन्न अन्य प्रमाण से प्रतीत पदार्थों के द्वारा अर्थ बोधकत्व न दीखने पर अथवा परस्पर अन्वय बोध न होने पर पद पदार्थों में भी वाक्यार्थ बोधक शक्ति को धारण कराते हैं- उस उत्पादन शक्ति को एक भिन्न शक्ति ही माना जायेगा।[५] अन्वय-बोधक इस शक्ति की उत्पत्ति में शब्दसंस्पर्श ही हेतु होता है।[६] यह शक्ति पदों में ही

---

१. पूर्ववर्णजनित - इति निर्विषयम्। अशक्यञ्च महावाक्यस्य सकृत्स्मरणम् तस्मात्पदानामेव वाचक-शक्तिराश्रयणीया। वा०मातृ०, पृ० ३४

२. तं०र०, शा०परि०, पृ० २७

३. अत्र नव्यास्तु पदैरभिहिताः स्वार्थाः स्मारिता वा पदार्थाः आकांक्षादि युक्ता वाक्यार्थं गमयन्तीति। तं०र०, पृ० २७

४. तदप्यनुपपन्नम्। शक्तिकल्पना-गौरवात्। तं०र०, वही, पृ० २७

५. तं०र०, पृ० २७

६. तस्याश्चोत्पत्तौ शब्द-संस्पर्श एव हेतुरित्याश्रयणीयम्। वा०मातृ०, पृ० ४५

रहती है इसी शक्ति से पदार्थों में अन्वय होता है।[१] शालिकनाथ कहते हैं कि- शब्द से अतिरिक्त प्रमाणों द्वारा प्रतीत पदार्थों में जब अन्वय बोध की क्षमता न हो तभी शब्द अथवा पद ही उन पदार्थों में अन्वय बोधक सामर्थ्य से अर्थ-प्रतीति कराते हैं जैसा कि रामानुज ने भी माना है।[२]

यहाँ पुनः शंका होती है कि प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थों में तो पहले से ही संसर्ग बोध का सामर्थ्य रहता है।[३] फिर वहाँ पदों के द्वारा अन्वित अभिधान की कोई आवश्यकता ही नहीं? एक उदाहरण द्वारा इस बात को और स्पष्टतः समझा जा सकता है - 'प्रत्यक्ष'[४] से जिसका आश्रय अज्ञात है उस श्वेतता को जान लिया और - हिनहिनाहट की ध्वनि से घोड़े का अनुमान कर लिया जो कि अज्ञात रूप है तथा खुर की आवाज से अज्ञात कर्तृक के गमन का अनुमान हो गया - इस प्रकार यहाँ पर तो प्रमाणान्तरों से ही अन्वय बोध होकर अश्व का ज्ञान हो गया। श्लोकवार्तिककार कुमारिल ने भी स्पष्ट लिखा है - 'दृष्टा वाक्य विनिर्मुक्ता' अर्थात् अश्वविषयक बुद्धि विना वाक्यान्वयन के ही हो जाती है।

रामानुज कृत कुमारिल-मत खण्डन परीक्षा

रामानुज की दृष्टि से अश्व के ज्ञान में संसर्ग प्रतीति नहीं होती, अपितु श्वेत कोई वस्तु दिखाई पड़ती है उसकी आवाज और रूप आदि लिङ्गों के द्वारा वह जिज्ञासु अनुमान करता है कि वह अश्व है।[५] शालिकनाथ ने भी इस बोध को अनुमान या अर्थापत्ति से माना है।[६] यहाँ पर यदि पद से पदार्थ का ज्ञान परस्पर अन्वय से माना जायेगा तब समस्या

१. वा०मा०, पृ० ५१ (पदानामेव सा शक्तिः - श्लो० ११)

२. ...शब्दस्यापि पदार्थ-गतान्वय-बोधकत्व शक्त्याधान-शक्तिराश्रयणीया। स्यादेवम्। यदि मानान्तरावसेयानां पदार्थनामन्योन्यान्वयावगमे सामर्थ्ये न स्यात्।। वा०मातृ०, पृ० ४५

३. तं०र०, पृ० २७

४. पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषा शब्दं च शृण्वतः।
खुर-निक्षेप-शब्दञ्च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः।
दृष्टा वाक्य-विनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित्। श्लो०वा० (वाक्या) ७।३५८-५९, पृ० ११४८

५. तदाऽनुमानादेव धावत्यश्व इति धीः। तं०र०, पृ० २७

६. वा०मातृ०, पृ० ४६

यह होगी कि उसे किस प्रमाण के अन्तर्गत माना जाये शब्द-प्रमाण इसलिए नहीं - चूँकि प्रतीति से पूर्व वहाँ शब्दप्रयोग का अभाव है। यदि प्रमाणान्तर से अन्वय मानेंगे तो शब्दत्व का उच्छेद होने लगेगा - अतः पदों से प्रतिपादित पदार्थ ही अन्यत्र अदृष्ट वाक्यार्थ के अन्वयन का सामर्थ्य रखते हैं।

अन्विताभिधानवाद

प्राभाकर अन्विताभिधानवादी है - इनके अनुसार अन्वित पदों की ही अभिधायिका शक्ति होती है। यह अभिधान शक्ति यदि पद से अतिरिक्त पदार्थ में भी मानी जायेगी तो यह एक नवीन कल्पना मानी जायेगी। अतः प्राभाकार नवीन शक्ति की अपेक्षा पदगत शक्ति की ही सीमा अन्वय-पर्य्यन्त मानते हैं यही उचित भी है। शालिकनाथ ने धर्मों की कल्पना की अपेक्षा धर्म की कल्पना में लाघव माना है।[१] कुमारिल ने अभिधायकता को भी स्मारकता ही माना है।[२] शालिकनाथ के अनुसार अभिधायकत्व वादियों में शक्तित्रय मान्य है।[३] रामानुज के मत में यदि संसर्गबोध आदि के रूप में पदों में भी उनके आधान को कराने वाली शक्ति अगर मानी जायेगी तब तो शक्तित्रय का होना कल्पना गौरव है।[४]

रामानुज सम्मत लक्षणा स्वरूप खण्डन

यदि संसर्ग बोध से कल्पना गौरव है तब क्या लक्षणा से अन्वय मानना चाहिए? भाट्टमत में जैसे अवस्था युक्त का कथन करने पर अवस्था का भी परिज्ञान होता है क्योंकि ये नित्य सम्बद्ध रहते हैं वैसे ही सर्वत्र वाक्यार्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। रामानुज ने मुख्यार्थ का बोध न होने से 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा को नहीं माना। क्योंकि

---

१. पदार्थानां तु बोधने-शक्तिरेव कल्प्या। तेन 'धर्मिकल्पनातो वरं धर्मकल्पना लघीयसी' इत्यन्विताभिधानशक्तिः पदानामेव कल्पयितुमुचिता। वा०मातृ०, पृ० ५१ (प्र०परि०)

२. पदमभ्याधिकामावात्स्मारकान्न विशिष्यते। श्लो०वा० ६-१०७ / (शब्द परिच्छेद), पृ० ५२५

३. वा०मातृ० (प्र०परि०), पृ० ५१-५२

४. तं०र०, शा०परि०, पृ० २८ (पदानामपि तदाधान-शक्तिरिति शक्तित्रय- कल्पना-गौरवम्)

सर्वत्र मुख्यार्थ का बाध नहीं होता।[१] गंगा आदि में जो लक्षणा मानते हैं - वे मीमांसा की गहराई से अपरिचित है। 'छत्रिणो गच्छन्ति' इसमें छत्री कहने से छतरी वाले और बिना छतरी वालों का समुदाय ही लक्षित होता है। छतरी शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार वैश्वदेवेनयजेत इत्यादि वाक्यों में भी वैश्व देव और अवैश्वदेव गण परिलक्षित हो रहा है- वस्तुतः जहत् और अजहत् का भी इसी अर्थ में द्वैविध्य है यह रामानुज की मान्यता है।[२] 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में अन्वयानुपपत्ति के कारण सम्बन्धवश लक्षणा[३] मान लेने पर भी 'गामनय' इस वाक्य में तो गो पदार्थ का अन्वय होने से वह लक्षणा अयुक्त ही है और वाक्यार्थ मात्र का लक्ष्यत्व रामानुज की दृष्टि में वैसे भी अनुपपन्न है।

अभिहितान्वयवादी मत के स्मारकत्व पक्ष का निरास

प्रश्न यह उठता है कि पद के द्वारा स्मारित पदार्थ ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं क्योंकि एक सम्बन्धी के दर्शन से दूसरे का स्मरण होना स्वाभाविक है कुमारिल ने भी 'पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' ऐसा माना है[४] अतः स्मारकत्व पक्ष में गौरव न होने से इसे मानना चाहिए।[५]

रामानुज के मत में ऐसा मानने पर वाक्यार्थ में शब्दत्व तो समाप्त ही हो जायेगा क्योंकि वाक्यार्थ भी पदार्थ से ही लक्षित है वह भी पदों में विद्यमान अभिधायक शक्ति से अभिधेय नहीं है। यदि यह माना जाये कि जिन पदों से पदार्थ का स्मरण होता है उन्हीं से पदों का भी श्रवण होता है और उन स्मृतपदों से अन्वय हो जायेगा - यह ठीक नहीं - क्योंकि पहले तो वाचक का श्रवण और उसके बाद वाच्य का स्मरण, पुनः वाचक का स्मरण और उसके बाद वाच्य का स्मरण - इस प्रकार अव्यवस्था

१. तं०र०, पृ० २९
२. तं०र० (शा०परि०), पृ० २८
३. गंगायां घोषः इत्यादिषु ..... अनुपपत्या सम्बन्धेन च लक्षणा भवतीति। 'गामानय' इत्यादौ ..... मा भूदेषालक्षणा। वा०मातृ०, पृ० ५०
४. श्लो०वा० (शब्द० १०७)
५. तं०र०, पृ० २८

खड़ी हो जायेगी।[१]

रामानुज कृत प्रभाकर मत विश्लेषण

प्रभाकर मत में पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है इस विषय में पदों को ही प्रामाणिक माना गया है। क्योंकि पद ही अपने अर्थ में अन्वित होकर वाक्यार्थ-बोध कराते हैं।[२] पदों की व्युत्पत्ति का प्रकार इस प्रकार है- उत्तम वृद्ध 'देवदत्त! गामानय' यह वाक्य बोलता है - इसके बाद मध्यम वृद्ध प्रवर्तित होता है - तब तटस्थ जिज्ञासु उसकी प्रवृत्ति को ज्ञानपूर्वक होने का अनुमान कर लेता है।[३] ऐसा बार-बार देखने से यह व्युत्पत्ति उत्पन्न हो गई कि - इस वाक्य का अर्थ 'गाय को लाना' है। कालान्तर में कभी 'अश्वमानय' ऐसा वाक्य बोलने पर 'अश्व' पद के उसके अर्थ में अन्वित होने पर अश्व को भी जान लेता है। अश्व को लाने से पहले वह आवाप उद्वाप द्वारा अन्वित निर्धारित करता है। गो पद अश्वार्थ में अनन्वित होने से उसका उद्वाप (परित्याग) करके 'अश्व' पद ही अश्वार्थ में अन्वित होने से उसका आवाप (ग्रहण) करके वह इस आवापोद्वाप द्वारा - गाय और अश्व इन दोनों पदों का किस-किस अर्थ में अन्वय है - यह जान लेता है।[४] इस प्रकार वह जिज्ञासु उस प्रथम व्युत्पन्न पुरुष का बार-बार प्रयोग देखने से न जानने वाले के मन में यह जिज्ञासा होती है कि यदि यह मध्यम वृद्ध जानता है तो मुझे भी पहली बार ज्ञान करा रहा है और यदि न जानता तो उत्तम वृद्ध को भी कुछ न बता पाता कि कौन सा अश्व है और कौन सी गाय है? अतः यह मध्यम वृद्ध किसी वृद्ध विशेष से अवश्य जानकारी लेता है - मैं तो नहीं लेता। वह वृद्ध विशेष कौन है? - इस जिज्ञासा से वृद्ध व्यवहार से उन शब्दों के उन्हीं अर्थों को वह तटस्थ व्यक्ति स्वयं जान लेता है। इस प्रकार पदों का

१. तं०र०, पृ० २८

२. प्राभाकरास्तु - पदान्येव वाक्यम्। पदार्थ एव वाक्यार्थः। तत्र पदान्येव प्रमाणम्। अर्थान्तरान्वितस्वार्थे पदानां व्युत्पत्तेरित्याहुः। तं०र०, पृ० २९

३. वही

४. तं०र०, पृ० २९

वाचकत्व (शक्तिग्रह) वृद्ध व्यवहार से ही गृहीत होता है - यह प्राभाकरों की मान्यता है।[१]

यह वृद्ध व्यवहार परम्परा अनादि होने से शब्दार्थ सम्बन्ध भी अपौरुषेय और स्वाभाविक निश्चित हो जाता है।

रामानुज के मत में शब्दों में प्रत्यायकत्व स्वाभाविक है। वह व्युत्पत्ति सापेक्ष है संकेत कृत नहीं। संकेत तो किसी शब्द का किसी अन्य अर्थ के प्रति भी हो सकता है अतः प्रभाकर मत में शक्ति-ग्रह होता है अर्थात् संकेत-ग्रह केवल पदार्थ में ही होता है जोकि वृद्ध व्यवहार पर आधारित है। उस शक्ति का ग्रह प्रयोज्य वृद्ध व्यवहार में होता है जोकि विशिष्ट अर्थ-ज्ञान का मूल है और उस ज्ञान का मूल वाचक शक्ति है जो पदों में रहती है - शालिकनाथ ने भी उसे ही माना है। विशिष्ट विषय या पदार्थ के साथ अन्वित होकर ही वह शक्ति गृहीत होती है। आवापोद्वाप भी अन्वित पदार्थ में ही गोचर होते हैं।[२] इसके पश्चात् 'गामानय' ऐसा कहने पर 'गो' पद आनय से अन्वित होकर अपने अर्थ का बोधक होता है इसी प्रकार 'आनय' भी। 'अन्वित' में ही शक्ति ग्रह होने से पदों का 'अन्विताभिधान' होना सिद्ध हो जाता है।[३] मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति कार्यज्ञान पूर्वक होने से तथा कार्यज्ञान शब्द मूलक होने से सभी पदों का कार्यपरक होना भी सिद्ध हो जाता है। वह कार्यपरत्व का ही होता है। अन्य पदों का परम्परया होता है क्योंकि प्रकृत्यंश के समान प्रत्ययांश का भी आवापोद्वाप द्वारा ही शक्तिग्रह होता है।[४] जिसका स्पष्टीकरण 'शास्त्र प्रमेय-रहस्य' अध्याय में किया गया है।

---

१. तं०र० (शा०परि०), पृ० २९

२. तस्माच्छब्दानां प्रत्यायकत्वं स्वाभाविकम्। तच्चव्युत्पत्त्यपेक्षम्। न पुनस्संकेत-कृतम्। सा च शक्ति-ग्रहाधीना। तद्ग्रहश्चप्रयोज्य वृद्ध-व्यवहारे। स च विशिष्टार्थ-ज्ञान मूलः। तच्च ज्ञानं वाचकशक्तिमूलमिति विशिष्ट विषयैव शक्तिरुन्नीयते। तं०र०, शा०परि०, पृ० २९

३. आवापोद्वापौ चान्वितगोचरौ। ततश्च गामानयेत्युक्ते गोपदमानयेत्यन्वित- स्वार्थबोधकम्। एवमानयेति पदमपि। ततश्चान्विते शक्तिग्रहादन्वितामिधायित्वं पदानां सिद्धम्। तं०र०, पृ० २९

४. ..... सर्वेषामपि पदानां कार्य-परत्वमवगन्तव्यम् तच्चावापोद्वापाभ्यां साक्षाल्लिङ्गादिप्रत्ययस्य। इतरेषां तु परम्परया। प्रकृत्यंशस्येव प्रत्ययांशस्यापि ताभ्यां शक्तिग्रहात्। तं०र०, पृ० २९

अन्विताभिधान पर आक्षेप

वस्तुतः प्रतियोगियों के अनन्त होने से शक्तिग्रह असम्भव है। वाक्य से विशेषान्वय ज्ञात होने से सामान्य अन्वय की भी आशङ्का नहीं की जा सकती। पदों के स्वरूप मात्र से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति मानने पर शक्ति कल्पना के कारण गौरव दोष होगा - अतः अन्विताभिधान सिद्ध कैसे होगा? वाक्य में पदन्वित अर्थ की प्रतीति मानने पर यह भी शंका होती है कि क्या वह अन्वित स्वार्थता अभिहित पदान्तर से ज्ञात होती है अथवा अनभिहित से? प्रथम विकल्प मानने से परस्पराश्रय दोष होगा - क्योंकि इससे तो प्रत्येक पद अपने अर्थ के अभिधान के लिए पदार्थान्तर की अपेक्षा रखने लगेगा। द्वितीय विकल्प मानने पर अन्य पदों का प्रयोग व्यर्थ होने लगेगा - साथ ही - एक पद के प्रयोग से समस्त पदों के अन्वय की प्रतीति का प्रसंग होने लगेगा।

उक्त कथन ग्रन्थकार की दृष्टि में इसलिए उचित नहीं - क्योंकि आकांक्षा सन्निधि और योग्यता इनसे अन्वित होकर ही पद अपने अर्थ का अभिधान करना है।

आकांक्षा लक्षण परीक्षा

ज्ञाता की जिज्ञासा को 'आकांक्षा' कहते है।[१] नैयायिकों के अनुसार यह अविनाभाव निबन्धना[२] है। रामानुज ने अविनाभावी पदार्थों के अनन्त होने से इसको उचित नहीं माना। इस विषय में तन्त्ररहस्यकार कहते हैं कि जिज्ञासा किसी और से ही जुड़ी हुई है, अभिधान और अभिधेय का पर्यवसान न होना ही जिज्ञासा के निबन्धन का कारण है।[३] 'द्वारम्' कहने पर जब तक अन्य पद का प्रयोग नहीं होगा तब तक अन्विताभिधान का पर्यवसान नहीं माना जायेगा। अतः 'संव्रियताम्' का अन्वय होने पर ही

१. का पुनरियमाकांक्षा? प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा। तं०र०, पृ० ३१

२. क्रिया-पदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकांक्षा। न्याय०सि०मु०, शब्द सं० ३४९

३. अतोऽन्यदेवनिबन्धम्। अभिधानापर्यवसानमभिधेयापर्यवसानं च। तं०र०, पृ० ३०

अन्विताभिधान प्रतिपन्न होगा। इसी प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' में रात्रिभोजन में 'विश्वजिता यजेत' 'अमावस्यायामपराह्ने पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इन दोनों वाक्यों में 'स्वर्गकाम' पद से अन्विताभिधान होगा। 'गामानय शुक्लां दण्डेन' तथा 'रक्तः पटो भवति' इन वाक्यों में 'शुक्लाम्' और 'रक्तः' इन दो पदों के न रहने पर भी वाक्य पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार 'गामानय' इतना कहने पर भी वाक्य उसी अर्थ का अभिधान करता है फिर आकांक्षा न होने से यहाँ अन्विताभिधान कैसे होगा? इस संशय का उत्तर देते हुए रामानुज कहते हैं[१] कि यह कथन भी ठीक है तथापि एक वाक्यता के बल से क्रियापद से सन्निहित एवं अन्वित होकर उक्त पद भी अन्विताभिधान से युक्त हो जाते हैं। शालिकनाथ के मत में 'शुक्लाम्' पद क्रिया के साथ अन्वित होकर ही एकवाक्यता प्रतीति पूर्वक स्व अर्थ का अभिधान करता है अतः उसके साथ भी 'आनय' पद की आकांक्षा की जाती है - इसलिए अन्विताभिधान स्पष्ट है।[२]

रामानुज शबर की[३] 'भवति तु रक्तं प्रत्याकांक्षां' इस पंक्ति में भी 'रक्तम्' के साथ क्रिया की आकांक्षा को मानते हैं। 'द्वारम्' इत्यादि में आकांक्षा वश सन्निधि की कल्पना की जाती है जबकि 'गामानय' आदि में सन्निधि वश आकांक्षा का भाव होता है - अतः एव उत्थापित आकांक्षा एवं स्वाभाविक आकांक्षा - ये आकांक्षा के दो भेद हैं।[४]

संशय यह है कि सन्निधि और योग्यता के रहते आकांक्षा की क्या आवश्यकता है? रामानुज की दृष्टि में आकांक्षा रहित पदों में अन्वय नहीं बन पाता है। जैसे 'राजा का पुत्र आता है' - 'पुरुष को हटाओ' यहाँ पर राजा और पुरुष में पुत्र और 'अपसर्पण' निराकांक्ष होने से पुरुष के साथ परस्पर अन्वय नहीं बनेगा। यह आकांक्षा सब में समान नहीं होती। मुख्य

---

१. सत्यं तदप्रयोगे। तत्प्रयोगे तु समाभिव्याहृतसर्वपदानां सम्भूयकारित्वव्युत्पतेरेकवाक्यताबलात्त-द्विषयामाकांक्षामुत्थाप्य ताम्यामन्विताभिधानम्। तं०र०, पृ० ३०

२. प्र०पं०, वा०मातृ०, प्र०परि०, पृ० ३८७

३. शाबर-भाष्य १-२-१.७, पृ० ११७ (जैमिनीप्रणीत मी०द०)

४. तं०र० (शा०परि०), पृ० ३०

और गौणभाव से अन्वय को प्राप्त होने योग्य उन उन अर्थों के योग्यता क्रम से होती है - जैसे 'श्वेत गाय को दण्डे से घेर लाओ' यहाँ पर सर्वप्रथम तो कर्म (गाय) विषयक तत्पश्चात् विशेषण (श्वेत) विषयक उसके बाद करण (दण्ड) विषयक आकांक्षा होती है। इसी प्रकार स्वर्ग का इच्छुक यज्ञ करे इसमें भी आकांक्षा के क्रम से ही अन्वय समझना चाहिए और क्रम के विषय में लोकाचार ही प्रमाण है। इस प्रकार शालिकनाथ के अनुसार अन्विताभिधान के संगठन के लिए प्रतियोगी में जिज्ञासा है वही 'आकांक्षा' है।[१]

सन्निधि-लक्षण-परीक्षण

जो अर्थ सुनने के बाद आकांक्षा और योग्यता द्वारा अर्थान्तर में परिणत हो जाये[२] वह सन्निधि है। यह केवल शब्द निबन्धना ही नहीं होती- अर्थ के अध्याहार से भी लोक में अन्विताभिधान देखा जाता है[३] यह अर्थापत्ति प्रमाण की चर्चा में कहा जा चुका है। शालिकनाथ ने भी केवल शब्द जन्मा सन्निधि ही नहीं[४] अपितु अध्याहृत अर्थ से भी इसका सम्बन्धा लोक में बताया है। यह सन्निधायक सामग्री के क्रम से होती है।[५]

योग्यता लक्षण परीक्षण

रामानुज के सम्बन्ध के योग्य होने को ही योग्यता कहा है[६] - यह लोक प्रमाण पर आधारित है। लोक में जिन वस्तुओं का सम्बन्ध देखा

---

१. अन्वितस्याभिधानार्थमुक्तार्थघटनाय वा।
प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकांक्षेति गीयते। वा०मातृ०, प्र०परि०, पृ० ४०

२. तं०र०, पृ० ३१

३. सा च न केवलं शब्द-निबन्धना। अध्याहृतेनाप्यन्विताभिधानात्। तं०र०

४. वा०मातृ०, प्र०परि०, पृ० ४१

५. सन्निधिश्शब्द-जन्मैव व्युत्पत्तौ नोपलक्षणम्।
अध्याहृतेनाप्यर्थेन लोके सम्बन्ध-दर्शनात्।।
सहसैव न सर्वेषां सन्निधिः प्रतियोगिनाम्।
सन्निधापकसामग्रीक्रमेण क्रमवानसौ।।
यथा यथा सन्निधानं जायते प्रतियोगिनाम्।
तथा क्रमेणैव शब्दैरन्वित-बोधनम्।। वा०मातृ०, पृ० ४३

६. किं पुनरिदं योग्यत्वम्? यत्सम्बन्धनार्हम्। तच्च लोक-प्रमाण-सिद्धम्। तं०र०, पृ० ३१

जाता है उसी के आधार पर 'सम्बन्ध योग्यत्व' का निर्धारण होता है। सामान्यत: जिसकी योग्यता का निश्चय हो जाता है वही विशेष में अन्वित होता है अथवा विशेष की अन्विति में सहकारी होता है।[१] जिसको योग्यता अवधारित नहीं है, वह अन्वित नहीं हो सकता - जैसे 'आग से सींचता है' में आग और सेंचन में अन्वय नहीं बन सकता। यहाँ शंका होती है कि वैदिक पदों का अपूर्व रूप कार्य से अन्विताभिधान कैसे होगा? क्योंकि ये स्वत: प्रामाण्य होने से प्रमाणान्तर से गोचर नहीं हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि वैदिक पदों से उत्पन्न अपूर्व कार्य का सम्बन्ध किसी से यदि है तो वह आज तक किसी ने देखा नहीं है।

रामानुज नाथ[२] के अनुसरण को दृष्टि में रखकर वैदिक कार्यों में भी सामान्यत: योग्यता का अवधारण ही विशेष में अन्वय का उपाय है अर्थात् प्रथम योग्यतावधारण सामान्यत: फिर विशेष अर्थ में अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार जैसे लोक में सम्बन्धार्हता देखी जाती है वैसे ही वेद में योग्यत्व का निश्चय हो जाता है।[३] शालिकनाथ भी यही मानते हैं।[४]

किन्हीं आचार्यों के मत में जो अयोग्य नहीं - वही योग्य है। रामानुज कहते हैं कि अलौकिक वस्तु के बारे में जैसे योग्यता निर्धारित नहीं होती वैसे ही अयोग्यता भी निर्धारित नहीं होती क्योंकि ऐसा मानने पर सब प्रकार से अन्वय प्राप्त होने लगेगा।[५] रामानुज के अनुसार आकांक्षादि तीनों का केवल अन्वय के प्रति ही कारणत्व नहीं है अपितु ये एक दूसरे की भी कार्य-कारण बनती हैं - यह सब अन्वय के आधार पर ही निर्धारण हो सकता है - इस प्रकार अन्वय आदि से सम्बन्धित यह न्याय

१. सामान्येनैव योग्यत्वं लोके यदवधारितम्।
तदन्विताभिधानस्य व्युत्पत्तावुपलक्षणम्।। वा०मातृ०, पृ० ४४
२. वा०मातृ० (प्र०परि०), पृ० ४४
३. तं०र०, पृ० ३१
४. वा०मातृ०, पृ० ४४
५. तं०र०, शा०परि० ३२

मार्ग (यथार्थ प्रतिपादन) बड़ा ही गम्भीर है।[१] आकांक्षादि उपलक्षण-त्रय से वाक्यार्थ प्रतीति मानने पर प्रतियोगियों के अनन्त होने से अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे - 'गामानय' - 'बधान' - 'मुञ्च' - इस एक ही गोपद की अनेक शक्ति होंगी। अभिहितान्वयवादी कहते हैं कि इससे अच्छा तो हमारा मत है जहाँ एक पद से एक ही शक्ति गृहीत है।

रामानुज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि आकांक्षा आदि से युक्त पदार्थ की अभिधायक शक्ति के अनेक प्रतियोगी होने पर कार्यों में भी अनेकता की उपपत्ति होगी - जैसे नेत्र एक ही दर्शन शक्ति के रूप, रूपत्व और उनसे समवेत पदार्थों को देखती हुई प्रतियोगी भेद से दर्शन शक्ति में भी भेद रखती है। दूसरी बात अनन्त प्रतियोगितयों के अन्वयबोध की यह समस्या तो दोनों पक्षों में ही बराबर है।[२]

रामानुज इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - प्रत्यय हमेशा प्रकृति अर्थ से अन्वित होकर स्व अर्थ का अभिधान करता है - यह तो आप अभिहितान्वयवादी भी मानते है[३] इसी प्रकार प्रकृति भी प्रत्ययार्थ से अन्वित होकर अभिहित होती है क्योंकि प्रकृति (पद) प्रत्यय से भिन्न नहीं है। अत: समस्त पद समूह को अन्वित अर्थ का अभिधान करने वाला ही मान लेना चाहिए। अन्विताभिधान को यदि मानना चाहते हो तो पूरे को मानो - कम से कम आधे का तो हनन मत करो - यदि खण्डन ही करते हो तो प्रत्यय को अन्वितार्थ का अभिधायक क्यों मानते हो?[४]

अन्वय एवं अन्वित सम्बन्ध विवेचन

जो अन्वय से युक्त हो वह अन्वित कहलाता है। अन्वय विशेषण है और अन्वित विशेष्य है। यदि कोई यह कहे कि दोनों में पृथक्-पृथक्

१. आकांक्षादीनां त्रयाणां न केवलमन्वयं प्रत्येव कारणत्वम्। किंत्वन्योन्यमपि कार्यकारणभावस्तत्र तत्रान्वयवशादवगन्तव्य इति गम्भीरोऽयं न्याय-मार्ग:। तं०र०, पृ० ३२

२. तं०र०, पृ० ३२

३. अपि च प्रत्ययस्तावत्प्रकृत्यर्थान्वितं स्वार्थमभिधत्त इति भवताऽप्युक्तम्। तं०र०, पृ० ३२

४. तं०र०, पृ० ३२

शक्ति है जिसे नकारा नहीं जा सकता - जोकि गौरव दोष का कारण है- तो इस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह ठीक नहीं - क्योंकि अन्वयवत्ता ही अन्वितत्व है - अन्वय के बिना अन्वित का पृथक् कोई महत्त्व और लाभ नहीं है। घट के बिना पट जैसे पृथक् रह सकता है वैसे अन्वय के बिना अन्वित अवस्थित नहीं हो सकता।[१] अन्वय के बिना अन्वित का ज्ञान नहीं हो सकता। अन्वय प्रतीति होने पर अन्वित की भी प्रतीति होती है। एक ही शक्ति है जो कि अन्वय में - जैसे व्यक्ति में होती है। व्यक्ति के बिना जाति की प्रतीति नहीं होती। वस्तु स्वभाव से व्यक्ति की प्रतीति में ही उसकी प्रतीति गम्यमान रहती है क्योंकि वह व्यक्ति की ही आकार भूत होती है और आकारी के बिना आकार की प्रतीति नहीं होती - यह नियम है।

यहाँ पुनः शंका उठती है कि फिर तो उन दोनों (जाति-व्यक्ति) में भी एक शक्तिगोचरता माननी पड़ेगी? ग्रन्थकार इसका परिहार इस प्रकार करते हैं - जैसे अन्वयवत्ता ही अन्वित-रूपता है, वैसे व्यक्तिमत्ता ही जाति स्वरूप नहीं है। वह जाति तो व्यक्ति से पृथक् रहती हुई भी तदाकार भूत है अतः दोनों में एक ही शक्ति गोचरत्व नहीं माना जा सकता।

तब क्या दो शक्तियाँ मान ली जायें? ग्रन्थकार पुनः इसका भी उत्तर देते हुए कहते हैं कि दो शक्तियाँ भी नहीं मानी जा सकतीं - क्योंकि शक्ति के बिना भी जाति स्वभावतः ही व्यक्ति के साथ उपलब्ध रहती है। व्यक्ति के बिना तो जाति वाचक शब्द भी जाति का बोध नहीं करा सकता क्योंकि आकारी के बिना आकार का बोध अशक्त है। इसलिए जाति का अभिधायक जाति शब्द व्यक्ति का भी परिज्ञान करा देता है वहाँ शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शब्दार्थ हमेशा अनन्यलभ्य अर्थात् किसी दूसरे शब्द से ज्ञात नहीं होता जिस शब्द का वह अर्थ है उस अर्थ को वही शब्द बतायेगा - यह न्याय है।[२]

१. न हि घटमन्तरेण पटवत् अन्वयमन्तरेणान्वितत्वं पृथगवतिष्ठते। तं०र० ३२

२. अतो जात्यभिधायकतयैव जाति-शब्दो व्यक्तिमपि प्रत्यायतीति न शक्तिस्तत्र कल्प्यते। अनन्यलभ्यशब्दार्थ इति न्यायात्। तं०र०, पृ० ३३

पद से अतिरिक्त पदार्थ वाक्यार्थ नहीं है

यद्यपि जाति और व्यक्ति दोनों ही प्रतीति के विषय होते हैं इसमें जाति तो अभिधेय होती है व्यक्ति नहीं - ऐसा क्यों है? अभिधेय का अर्थ है शब्द द्वारा उठाये गये विज्ञान का विषय होना - इस दृष्टि से जाति और व्यक्ति दोनों ही शब्द श्रवण के उपरान्त बुद्धि में अवस्थित होते हैं। फिर यह भेद क्यों हैं? रामानुज के अनुसार व्यक्तियों के अनन्त होने से उनके अभिधेयत्व की सङ्गति अशक्य है। लेकिन जाति में शब्द से जाति की प्रतीति के न होने का प्रसङ्ग आ जायेगा। वस्तुतः तो शब्द ही जाति के साथ व्यक्ति का अभिधान करता है। रामानुज कहते हैं कि इनकी प्रतीति बड़ी विलक्षण है - व्यक्ति की प्रतीति से ही जाति की अभिव्यक्ति होती है- उसके बिना उसकी प्रतीति नहीं होती।[१] अन्विताभिधान पक्ष की स्थापना करते हुए रामानुज भाट्ट मत में जो शक्तित्रय है उनकी अपेक्षा शक्तिद्वयात्मक का प्रश्न है - वाक्यार्थ में शाब्दत्व सिद्धि के लिए पदों में ही उस स्मारकत्व पक्ष को समाहित किया जा सकता है और पदों में ही उसे अन्वित मानकर पद से साक्षाद् वाक्यार्थ मानना उचित है। इससे भी अन्विताभिधान ही सिद्ध होता है। पदों को छोड़कर पदार्थों में वाक्यार्थ-बोधन मानना उचित नहीं है।[२]

शक्ति कल्पना गौरव (भाट्टाभिमत) का परिहार करते हुए रामानुजाचार्य ने कहा है कि - पदों में वाक्यार्थ का अभिधान करने वाली शक्ति है - इस बात को तो आप (भाट्ट) निर्विवाद रूप से मानते हो - तब उसी को अन्वय पर्यन्त मान लेना चाहिए - इसी शक्ति को पदार्थों में खेंचकर एक अन्य शक्ति की कल्पना क्यों की जाए। धर्मी की कल्पना की अपेक्षा धर्म की कल्पना में ही लाघव होता है अर्थात् नई शक्ति की कल्पना की अपेक्षा पूर्वतः स्वीकृत शक्ति की ही सीमा को बढ़ा दिया जाना चाहिए - इसी में लाघव और औचित्य है।[३]

१. तं०र०, पृ० ३३
२. वही, पृ० ३३
३. वही, पृ० ३३

इसके अतिरिक्त जिसे (भाट्ट) ने पदों में स्मारकत्व माना है उसने भी वाक्यार्थ प्रतीति में तात्पर्य को स्वीकार किया है - उसी प्रकार उन्हीं (तात्पर्य युक्त) पदों से सीधा वाक्यार्थ का ज्ञान समझना चाहिए परम्परया मानने से क्या लाभ?

शालिकनाथ मिश्र ने भी यही कहा है[१] - प्रथम प्रतीति पदों की होती है - वे ही अर्थ के अभिधायक होते हैं और उन्हीं से तात्पर्यावगम होता है अतः वह (अन्वय) शक्ति भी पदों में ही माननी चाहिए।

तन्त्ररहस्यकार अन्विताभिधान का औचित्य ठहराते हुए उसे मुख्य-पदों में ही मानते हैं गौण और लाक्षणिक शब्दों में तो प्रतियोगिमात्र-उपस्थापकत्व है, अन्वितबोधकत्व नहीं है क्योंकि उनमें अन्वयशक्ति गृहीत नहीं होती और यदि वह गृहीत होने लगेगी तो उनमें अनेकार्थत्व प्रसक्त होने लगेगा- जो उचित नहीं। इस प्रकार आकांक्षा आदि त्रय से शक्ति प्राप्त अन्विताभिधान वाद ही समर्थनीय है।[२]

कुछ के मत में क्रियापद कारक सामान्य से अन्वित होकर इसी प्रकार कारकपद क्रिया सामान्य से अन्वित होकर अपने अर्थ को कहते हैं। तदनुसार समस्त शाब्द-अन्वय क्रियाकारक भाव से ही होता है। शब्दशक्तिग्रह अन्वय व्यतिरेक से होता है और वे अन्वयव्यतिरेक सामान्य गोचर है अतः सामान्यतः ही अन्विताभिधान सिद्ध हैं यह पूर्वपक्ष है।

ग्रन्थकार के अनुसार ऐसा मानने पर विशेष वाक्यार्थ का ज्ञान दुर्लभ हो जायेगा।

पदों से वाक्यार्थ अवगति

सर्वप्रथम तो सुने गये पद परस्पर अनन्वित स्व-अर्थों को याद दिलाते हैं- उनके स्मृत होने पर श्रोता को स्व स्व अर्थ विषयक विमर्श

---

१. प्राथम्यादाभिधातृत्वात्तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।। वा०भा०द्वि०परि०, पृ० ५१ / प्र०पं० (तन्त्ररहस्य में उद्धृत), पृ० ३३

२. तं०र०, पृ० ३३

हो जाता है - यह एक वाक्य है वह भिन्न वाक्य है - यह विवक्षितार्थ है यह विवक्षितार्थ नहीं है, यह लाक्षणिक है यह प्रधान है - यह अप्रधान है, यह विधेय है और यह अविधेय है - इस प्रकार का यह प्रारम्भिक विमर्श होता है। तत्पश्चात् वाक्यार्थ निर्णायक न्याय से ठीक ठीक शब्द और अर्थ विषयक योग्य और अयोग्य विभाग होने पर स्मरण हुए वे ही पद अन्विताभिधायक होते हैं - इस प्रकार स्मरण काल में, परामर्श काल में और अभिधान काल में - इतरेतराश्रय दोष होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। शालिकनाथ भी यही कहते हैं - प्रथम श्रवण तदन्तर स्मरण और स्मरणकाल में ही अर्थों का बाध होकर कारकवचन आदि का ज्ञान होने पर ज्ञाता को वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है।[१]

अब पद ही वाक्य है - ग्रन्थकार की इस मान्यता पर पूर्व पक्षी शंका करता है कि क्या एक-एक पद वाक्य है अथवा पदों का संघात वाक्य है? एक ही पद वाक्य हो जायेगा तब अन्य पदों का प्रयोग व्यर्थ होने लगेगा - अतः एक एक पद वाक्य नहीं है और यदि संघात को वाक्य माना जायेगा तब पद वाक्य नहीं बन सकेंगे फिर तो संघात ही वाक्य है- यह अन्यत्व प्रसक्त होने लगेगा। तन्त्ररहस्यकार कहते हैं कि - ऐसा कहना ठीक नहीं तदनुसार पद ही वाक्य है और वे संघात रूप से वाक्य नहीं है, किन्तु प्रत्येक पद अन्वित अभिधायक होकर ही वाक्य कहलाता है - जैसे 'गाय लाओ' यहाँ पर 'गाय' पद 'लाओ' से अन्वित होकर ही स्व-अर्थ का बोध कराता है - उस समय - 'लाओ' यह पद प्रतियोगी मात्र उपस्थापक है। 'लाओ' यह 'गाय' के साथ होने से - दोनों से वाक्य बना है - इसी प्रकार यदि इस वाक्य में दण्डे से गाय को लाओ - यह प्रयोग होता - तब दण्ड आदि भी वाक्य होता है। इस प्रकार प्रतियोगी उपस्थापक के रूप में होने से पदान्तर प्रयोग भी व्यर्थ नहीं होता है।[२] सभी पद अभिधान दशा में एक स्मृति में आरूढ़ होने से एक साथ अभिप्राय का बोध कराते हैं।

१. वा०मा०, प्र०परि०, पृ० ५२, श्लोक १२
२. तं०र०, पृ० ३४

इन पदों का प्रधान प्रयोजन कार्य है। क्योंकि सबकी कार्यपरक व्युत्पत्ति है। इस प्रकार प्रथम पद अथवा प्रधान पद ही अन्विताभिधायी होने से वाक्य हैं। अन्यपद प्रतियोगिमात्र के उपस्थापक होते हैं। यह वाद निरस्त हो जाता है।[१]

कुछ भाट्ट आदि के मत में पदातिरिक्त वाक्य और पदार्थातिरिक्त वाक्यार्थ है। उनके मत में वाक्य के नियत न होने से उस अर्थ में उसकी व्युत्पत्ति असम्भव है। वाक्य भी अपूर्व होने से उसकी अर्थ प्रतीति भी नहीं होगी। अतः नियत क्रम वाले वर्णों को ही पद माना है। ऐसे पदों को ही वाक्य मानने में लाभ है।

सम्प्रति तन्त्ररहस्यकार शालिकनाथ का अनुगमन करते हुए पदों में शक्ति को उचित ठहराते हुए कहते हैं - शिशो! गाय लाओ, शिशो! गाय को बांधो, वत्स! गाय लाओ, वत्स! गाय को बांधो, अर्भक! (बालक!) गाय लाओ, अर्भक! गाय को बांधो, इन सारे वाक्यों में पद कुल ७ है और ये वाक्य ८ है। इनमें जो पदों में शक्ति मानते हैं उनके अनुसार ७ शक्तियाँ होंगी - लेकिन वाक्य में शक्ति मानते हैं उनके अनुसार ८ शक्तियाँ माननी होंगी।[२]

इतना ही नहीं - उक्त वाक्यों में यदि गौ के विशेषण के रूप में यदि 'शुक्लां' पद और जोड़ दिया जाए तब तो वाक्यवादियों के मत में १६ शक्तियाँ माननी होंगी जबकि पदवादियों के हिसाब से एक ही पद बढ़ने से ७+१ = कुल ८ ही शक्तियाँ माननी होंगी। जोकि कल्पना लाघव है अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारे मत में तो पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है। लौकिक और वैदिक पदसमूह का अन्विताभिधायक के रूप में प्रामाण्य रामानुज ने सिद्ध किया है जिसका विस्तृत विवेचन शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका में किया है।[३]

---

१. तं०र०, पृ० ३४

२. तं०र०, शा०परि०, पृ० ३५

३. पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्विताथकम्।
न्याय-सम्पादित-व्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम्।।
स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मनः।
अर्थमाह पदं सर्वमिति नान्योन्यसंश्रयः।। वा०मातृ०, प्र०परि०, श्लो० १२ तथा १५

न्याय सम्पादित व्यक्ति का अर्थ

वृद्ध व्यवहार से प्रवर्तित शब्दार्थ प्रवृत्ति में - शब्दार्थगोचर एकवाक्यत्वाभिन्नवाक्यत्व आदि पूर्वोक्त साधारण न्याय है[१] तथा १२ अध्यायों में प्रतिपाद्य वेदार्थ निर्णय में प्रातिस्विक शब्दान्तर अभ्यासादि श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरण आदि, श्रुति अर्थ पठन स्थानादि वचन नामधेय तथा चोदनां आदि है, इनसे विमर्श की स्थिति में शब्द और अर्थ का अन्वयत्व विभाग सम्पादित होने पर उसके बाद स्मृति से गृहीत योग्यता के क्रम से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। यह न्याय सम्पादित व्यक्ति का अर्थ है।[२]

शालिकनाथ मिश्र के अनुसार - जब तक न्यायों (लोक व्यवहार के सिद्धान्तों) के आधार पर व्यक्ति (वचन - विधेय, अनुवाद्य, प्रधान, अप्रधान, विवक्षित और अविवक्षित आदि) का निर्धारण नहीं होता तब तक पद-वाक्यार्थ का अवबोधक नहीं होता और वेदवाक्यार्थ भी अवगत नहीं होता।[३]

वार्तिककार कुमारिल ने भी ऐसा ही माना है।[४]

अप्रतिपन्नार्थ (लौकिक वैदिक) वाक्य भी न्याय सापेक्ष होकर अर्थावबोध कहे जाते हैं तथा जो प्रतिपन्न हैं वे तो न्यायनिरपेक्ष होते हुए भी शीघ्र ही अर्थ के बोधक होते हैं। इस प्रकार वेद वाक्यार्थ में संशय होने पर तन्निर्णयार्थ उपायभूत-न्यायों-वृद्धव्यवहार पर आधारित-सिद्धान्तों से बन्धा हुआ शास्त्र ही मीमांसा शास्त्र है। जो बारह अध्यायों वाला है। वह करणीभूत भेद की इतिकर्तव्यता है। जैसे - नेत्रों का आलोक, अनुमान का

---

१. न्याय का अर्थ है - लोक व्यवहारवर्ती सिद्धान्त, वा०मा०, प्र०परि०, पृ० ५४

२. वा०मातृ०, पृ० ५४ (न्याय सम्पादित व्यक्तीति किमिदम्, यावन्न्यायेन) वचनव्यक्तिर्न सम्पाद्यते तावत् पद-जातं वाक्यार्थस्यावबोधकं न भवति।

३. तावदेव हि सन्देहो वेदवाक्ये रुते भवेत्।
यावन्न वचनव्यक्तिस्तस्य स्पष्टावधार्यते।।
ज्ञात्वा तु वचन-व्यक्तिं मीमांसा न्यायकातराः।
प्रलीयन्ते समस्ताश्च वेदवाक्यार्थ संशयाः।। वा०मातृ०, पृ० ५५ (बृहट्टीका)

४. बहुजातिगुणद्रव्यकर्मभेदावलम्बिनः।
प्रत्ययान् सहसा जातान् श्रोतलाक्षणिकात्मकान्।। तं०वा० (वा०मातृ०, पृ० ५५)

व्याप्ति, उपमान का सादृश्य और जैसे अर्थापत्ति का सन्देहापत्ति - इति कर्तव्यभूत है इसी प्रकार यह मीमांसा वेद की इतिकर्तव्य है।[१] जैसा कि बृहट्टीकाकार ने भी माना है।[२]

पदों का असंस्पर्शित्व शङ्का-समाधान

सम्प्रति ग्रन्थकार पूर्वपक्ष की ओर से शंका करते हैं कि- पद-अन्वित होकर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञापित करते हैं। यह हमने मान लिया लेकिन इससे तो कभी अप्रतीति भी हो सकती है जैसे - 'अंगुली के अग्र भाग पर हाथियों का झुण्ड है' 'बूड़ा बैल गाता है' इत्यादि वाक्य वृद्ध व्यवहार से व्युत्पन्न है लेकिन इनमें अर्थ का संस्पर्श न होने से इनको प्रमाण कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार सभी लौकिक पद अर्थ से असंस्पृष्ट है। इनके अर्थ की प्रतीति तो शब्द साहचर्यता से है जोकि भ्रान्ति मात्र है - उसे अव्यभिचारिणी नहीं कह सकते - यह नियम है।

पूर्वपक्षी पुनः शंका को दृढ़ करते हुए कहता है कि शुक्तिका-रजत के समान लौकिक-वाक्य तो कारण दोष से भेदाग्रह न होने से भ्रान्त हो ही जाते हैं- वैदिक-वाक्य स्वभावतः निर्दोष होने से ऐसा नहीं होता - यह बात नहीं है क्योंकि रजतज्ञान तो इन्द्रिय-जन्म होने से दोषयुक्त हो सकता है लेकिन वृद्धव्यवहार में तो शब्द ही अर्थ का ज्ञापक है वक्ता तो केवल शब्द का ही अभिव्यंजक है। अतः वक्ता का दोष उनमें संक्रमित नहीं होता- इसलिए लौकिक 'जरद्गवो गायति' आदि पद एवं वाक्य स्वतः अर्थ से असंस्पृष्ट रहते हैं और वैदिक भी लौकिकों की तरह ही होते हैं। यदि लोक में व्युत्पत्ति को माना जाता है और इससे शब्दार्थ संस्पर्शत्व माना जाता है तब वृद्धव्यवहार से प्रवृत्ति का होना और संवाद की क्या आवश्यकता रह जाती है? वह व्युत्पत्ति तो संदेह से भी सम्भव है।

दूसरा बात यह भी है कि लौकिक वाक्यों में अन्य प्रमाण से भी

१. सा च द्वादशाध्यायी। सा च करणी-भूतस्य वेदस्येति कर्तव्यता। तं०र०, पृ० ३६

२. धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इति कर्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति। बृहट्टीका, (तं०र०, पृ० ३६ पर)

अर्थ निर्णय हो सकता है परन्तु वेद में वक्ता न होने से और अन्य प्रमाण प्रसक्त न होने से निर्णय नहीं हो सकेगा। अतः वेद भी अर्थ से असंस्पृष्ट है - यह पूर्व-पक्ष है।

ग्रन्थकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द को अर्थ से असंस्पृष्ट माना जायेगा तब तो शब्दमूला प्रवृत्ति भी जगत में नहीं होगी और न ही वह प्रवृत्ति अन्य प्रवर्तन घटित होगा - शब्दमूलक होने से और किसी तरह अर्थ संस्पृष्ट मान भी लिया जाये तब नियत प्रवृत्ति नहीं बन पायेगी अतः उसके अर्थ का संस्पर्श मानना ही पड़ेगा।

लौकिक पदसमूह स्वयं प्रामाणिक न होकर लिंग से अर्थ के द्योतक होते हैं - यद्यपि वहाँ शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है और उसका, परिज्ञान शक्तिग्रह से है और वह शक्तिग्रह वृद्ध व्यवहार से प्रवर्तित व्युत्पत्ति में सन्निहित है।

लौकिक वाक्य लिङ्ग के आधार पर बोधक

वाच्यवाचक रूप से सम्बद्ध पदसमूह स्वभावतः ही अर्थ का प्रकाशक होता है - यह सर्वजन-सम्मत है तथापि लौकिक वाक्यों में वक्ता के दोष की शंका से शक्ति तिरोहित हो जाती है - क्योंकि प्रायः लोग भ्रम, अतिशय दोष, प्रमाद आदि से युक्त वाक्यों का प्रयोग करते देखे जाते हैं। लौकिक वचन की जब तक प्रामाणिकता का निश्चय नहीं होता तब तक वह अर्थ का निश्चय नहीं करा सकते। पहले तो आप्तत्व का निश्चय किया जाता है- जो अन्वय-योग्यार्थ पद समूह का प्रयोग करता है - वह आप्त है। आप्तत्व के निश्चय के बाद वक्ता के ज्ञान का अनुमान किया जाता है- पश्चात् ज्ञान को अर्थ के अनुरूप देखकर ज्ञान से अर्थ का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थ निश्चय के बाद ही वह वाक्य लोक में उद्‌बुद्ध शक्ति वाला होकर उस अर्थ का वाचक बनता है। अतः लौकिकवाक्य लिंग के आधार पर प्रमाण है स्वतः नहीं।[१]

---

१. तं०र०, पृ० ३७

लौकिकवाक्य अनुमितार्थ बोधक होने से अनुवादक ही है। स्वयं प्रमाण नही है। रामानुज की दृष्टि में लौकिक आप्त वाक्य अनुवाद की दशा में ही अर्थों का संस्पर्श करने वाला होता है। वेद में वक्ता न होने से उनका अर्थ संस्पर्शत्व सिद्ध ही है।[१]

रामानुज कहते हैं कि लोक में भी ऐसे वैसे शब्द अर्थ के वाचक नहीं होते अपितु विशिष्ट शब्द से ही विशिष्ट अर्थ का अनुमान होता है।[२] धूमाग्नि अनुमान की तरह नहीं होता।

वक्ता के ज्ञानानुमान से प्रामाण्य व्यवस्थापन

लोक में पहले तो वक्ता के ज्ञान का अनुमान होता है फिर उसके अर्थ का अनुमान होता है अतः स्वतः प्रामाण्य का तो प्रश्न ही नहीं रहा। ज्ञान का वैशिष्ट्य अर्थ से होता है जैसाकि शालिकनाथ ने भी कहा है।[३] उस अर्थ का भी यदि अनुमान होता है - तब तो रामानुज कहते हैं कि बुभुत्साक्रम से अनुमान द्वय प्रसक्त होने से लौकिक ज्ञान वक्तृज्ञान के अनुमान पर ही आधारित है। शालिकनाथ ने भी नीतिपथ में यह व्यवस्थापित किया है।[४]

वेद की पौरुषेयत्व शंका

शंका - पद सङ्घातात्मक व्यास-रचित महाभारत की तरह वेद भी पौरुषेय है। कठशाखा और कण्वशाखा आदि नाम भी कठादि के कर्ता होने के कारण ही पड़े हैं।

ग्रन्थकार रामानुज के अनुसार महाभारत के कर्ता व्यास आदि की तरह वेद का पुरुष - कृतत्व स्मरण नहीं होता। व्यास की भारत-संहिता

१. तं०र०, शा०परि०, पृ० ३७

२. न हि यत्किञ्चिच्छमात्रायत्किञ्चिदर्थमात्रमनुमीयते। किंतु विशिष्टाच्छब्दाद्विशिष्टोऽर्थः। तं०र०, पृ० ३७

३. अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्। इति। प्र०पं०, नीति० ३६

४. इत्थं ज्ञानेऽनुमिते पश्चात्तेन ज्ञानेनार्थोऽनुमीयते इति बुभुत्साक्रमेणानुमान- द्वयप्रवृत्तिरिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। तं०र०, पृ० ३८

और पराशर की विष्णुपुराणसंहिता - इत्यादि कर्ताओं क नाम तो स्पष्टतः स्मरण हो रहे हैं।[१] जहाँ तक कठादि के कर्तृत्व का प्रश्न है कठशाला की व्याख्या कठ ने की थी - इसके कर्ता नहीं थे व्याख्याता थे[२], इसलिए इसका नाम कठशाखा पड़ गया। वस्तुतः ऋषि मन्त्र द्रष्टा ही होते हैं कर्ता नहीं। अच्छे व्याख्याता का नाम रचना के साथ विशेषण के रूप में जोड़ा जा सकता है। असंगत नहीं - शबर ने भी इसकी पुष्टि की है।[३]

इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध, पशु अन्नादि लौकिक फलों के साधन, शिष्ट जनों द्वारा ग्राह्य - कोई भी महान् ग्रन्थ भ्रान्त-पुरुष का होगा - यह शंका नहीं होती - इसी प्रकार अप्रामाण्य की भी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि निरुक्त व्याकरण मीमांसा आदि सत्य अर्थों के ही द्योतक है रामानुज कहते हैं कि शायद वेद को भी बुद्धिमान् ऋषियों ने बना दिया हो - ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए।[४]

वेदापौरुषेयत्व प्रतिपादन

वेद अपौरुषेय है पदों का संघात (मेल) तो उच्चारण के कारण है- वह उच्चारण भी उच्चारणान्तर पूर्वक है।[५] ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में विशुद्ध हृदय वाले ऋषियों को वेद-ज्ञान प्रेरित किया। उसे ऋषि महर्षि-गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण पूर्वक आज तक परम्परया कायम रखते हुए आ रहे हैं। ईश्वर ने वेदों को रचा नहीं, अपितु प्रेरणा की थी।[६]

वार्तिककार कुमारिल ने भी इसी आधार पर वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है।[७]

---

१. वही, पृ० ३८
२. तस्मात्प्रवचननिमित्ता कठादि समाख्या। वही, पृ० ३८
३. आख्या प्रवचनात्। जै०सू० १-१-३० (द्र०- शा०भा०)
४. तं०र०, पृ० ३८
५. वही, पृ० ३९
६. 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन .....। मीमांसा न्या०प्र०, पृ० १४-१५
७. वेदस्याध्ययनं सर्वगुर्वध्ययनपूर्वकम्। इत्यादि - श्लो०वा० वाक्याधिकरण, श्लो० ३६६, पृ० ११५०

पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री मीमांसा न्यायप्रकाश पर रचित बालतोषिणी व्याख्या से एक अनुमान वाक्य से इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'वेदोऽपौरुषेयः, स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात्' अर्थात् आद्योच्चारणकर्ता स्मरण योग्य होते हुए भी उसका स्मरण नहीं होता है - ऐसी अवस्था में पौरुषेयत्व कैसे सिद्ध हो सकता है।[१]

वेदों के अपौरुषेयत्व और नित्यत्व के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने भारतीय दर्शनों के सभी मतों का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।[२] ऋषि ने वेदों को नित्य और ईश्वरोक्त कहा है - ईश्वर कृत नहीं। वेद ज्ञान और शब्द (पद - च्छन्द स्वरादि) दोनों ही दृष्टियों से नित्य है।[३] वेदों के विषय में ऋषि कहते हैं - कि जैसे शरीर से श्वास निकलती और प्रवेश करती है उसी प्रकार ईश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।[४]

'चित्रया' इत्यादि वाक्य में अप्रामाण्य शंका - समाधान

'चित्रया यजेत' इत्यादि वाक्य में श्रुतियाँ यज्ञ करने वाले को पशु आदि फल से युक्त होने का बोध कराती है परन्तु कर्म के बाद वह फल मिलता नहीं देखा गया यदि कुछ मिलता भी है तो वह दानादि के निमित्त से ही मिलता है- इसलिए श्रुतियाँ प्रमाणान्तर से बाधित होने से प्रमाण कैसे हो सकती है?

रामानुज उक्त शंका का परिहार करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में कर्म के तुरन्त बाद ही फल मिल जाये ऐसा ज्ञात नहीं होता - किन्तु यह ज्ञापित होता है कि 'अपूर्व' फल का साधन है।[५] प्रतिग्रह आदि भी उस अपूर्व के ही परिपन्थी हैं - उसके विरोधी नहीं हैं। इसलिए प्रतिग्रह

१. मीमांसा न्या०प्र०, बाल तोषिणी, पृ० १४
२. वेद नित्यता तथा ऋषि दयानन्द, पृ० १५०
३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० ३२ (रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन)
४. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० ३२
५. न तावच्छास्त्रेणानन्तर-भावितया फलं ज्ञाप्यते। किं तु फलसाधनत्व मात्रमपूर्वस्य। तं०र०, पृ० ३१

(दानादि) और अपूर्व - दोनों ही फल के साधन है - इसलिए अपूर्व रूप वेद की प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं करना चाहिए। दर्शपूर्णमासादि अपूर्व प्रत्यक्षादि से दृष्ट नहीं हो सकता वह तो वेद से ही गोचर है ऐसा सूत्रकार भगवान जैमिनी भी कहते हैं।[१]

शास्त्र द्वैविध्य

शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमान भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम वेद है और द्वितीय नित्यानुमेय है जिसका लिंगभूत स्मृति और आचार शास्त्र है।[२]

स्मृति और आचार शास्त्र भी अनुमापक

रामानुज ने स्मृति और आचार शास्त्र को भी अनुमान में ही माना है। इससे श्रुति और स्मृति को एक मानने वालों का विचार निरस्त हो जाता है।[४]

शास्त्र की कार्यपरत्व व्युत्पत्ति का समर्थन

रामानुज ने लौकिक शास्त्र एवं वेद को कार्य का आत्मा कहा है क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति शास्त्र कार्य रूप ही है - ऐसा मान कर होती है। वह कार्य शब्द के बाद होने से शब्दजन्य है। उस कार्य में ही लिङ्लोटादि प्रत्यय भी अन्वय व्यतिरेक से धृतशक्ति हैं - इसलिए ये साक्षात् रूप से उस में तत्पर हैं और अन्य (लटादि) परम्परा से प्रयुक्त हैं।

यहाँ 'देवदत्त गामानय शुक्लां दण्डेन' इत्यादि में विधि प्रत्यय 'आनयति' की कार्यता का बोध कराता है 'लाना' क्रिया का बोध कराता है और 'गो' पद उसमें अन्वित कर्म का बोध कराता है।[५] इसी प्रकार इतर कारक पद भी इसी में अन्वित स्व-अर्थ वाले हैं। अन्विति में ही व्युत्पत्ति

---

१. जै०सू० १-१-४, १-१-२

२. तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानं च .....। तं०र०, पृ० ३९

३. वही, पृ० ३९

४. तस्माद् द्विविधं शास्त्रम्। स च कार्यात्मा। सर्वेषामपि - शब्दानां साक्षात्परपरया वा लोके कार्यपरत्वव्युत्पत्तेः। वैदिकानामपि लोकाविशेषात्। तं०र०, पृ० ३९ (द्र०- प्र०पं०, पृ० २३७-३८)

है। इसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन' स्वर्ग कामो यजेत इत्यादि वैदिक पदों में भी कार्यपरत्व-व्युत्पत्ति सिद्ध है। अतः उभयात्मक शास्त्र कार्यपरक है।[१]

सिद्धार्थपरक वाक्य से व्युत्पत्ति - शङ्का

भाट्ट मतानुसार 'पुत्रस्तेजातः'। 'क्षेत्रं ते पक्वसस्यम्' इत्यादि वाक्यों के प्रयोग से मुख प्रसाद और हर्षोत्पत्ति से जिज्ञासु को अनुमान हो जाता है कि इस प्रसन्न व्यक्ति को कोई खुशी का समाचार अवश्य मिला है। इसको बाद 'पुत्रस्ते सुखी' 'सुखपूर्वकः प्रसूतव्यापारः' इत्यादि वाक्यों से विशेषार्थ का भी बोध हो जाता है। यहाँ पर इष्टसाधनता भी कारण है।[२] इसके अतिरिक्त और भी सिद्धार्थपरक वाक्य लोक में प्रयुक्त होते हैं - जैसे - कुशलं ते कुशलं मम इत्यादि - अतः वाक्य व्युत्पत्ति सिद्धार्थपरक भी होती है। यह पूर्व पक्ष है।[३]

रामानुज सम्मत समाधान

रामानुज के अनुसार सिद्धार्थ के आख्यान में व्युत्पत्ति नहीं हो सकती। समस्त व्यक्ति की प्रारम्भिक व्युत्पत्ति वृद्ध व्यवहार से ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह व्यवहार विशिष्ट अर्थ को लेकर होता है - जो प्रत्यक्ष से ज्ञात है। उस व्यवहार का मूल 'कार्य' है क्योंकि वह 'कार्य' ही मनुष्य का प्रवर्तक है अतः शब्द शक्तिग्रह कार्यान्वित विशिष्ट अर्थ में ही होता है।[४]

लोक में जो पद-प्रयोग सिद्धार्थपरक माना जाता है - यह तो लाक्षणिक प्रयोग है।[५] दूसरी बात यह भी है कि 'इस शब्द का यह अर्थ है' ऐसी सभी पदार्थों के परिज्ञान वाली व्युत्पत्ति बहुत ही कठिन है।

---

१. तं०र०, पृ० ३९
द्रष्टव्य- प्र०पं० (शास्त्र परिच्छेद पृ० २३५ से २३७ तक)
२. मा०मे०, पृ० २५४
३. तं०र०, पृ० ४१
४. तं०र०, पृ० ४१
५. एव च लोके यस्मिन्नर्थपरस्य लाक्षणिक एव। तं०र०, पृ० ४०-४१

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि सिद्ध ब्रह्मपरक तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि सिद्ध परमात्मपरक - वाक्य भी विधि से एक वाक्यता के आधार पर कार्यपरक ही है। 'भूतं भव्याय' इस न्याय से इनकी कार्यता स्पष्ट है।[१] अतः शास्त्रपरक ही है।

शब्दविषयक रामानुज के मत का सार

वर्ण नित्य है और अर्थ प्रवाह से नित्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अपौरुषेय है। शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान शक्तिग्रह से होता है। शक्तिग्रह वृद्धव्यवहार पर आधारित है और वृद्ध व्यवहार कार्यान्वित स्व-अर्थ में ही होता है। कार्यान्वित स्व अर्थ के बोधक पद है। शब्दतत्त्व अखण्ड नहीं है और न ही अन्तिमवर्ण ही शब्द है। पद अन्वित अर्थ का ही अभिधान करते हैं। लौकिक पद अनुमान रूप है।

१. आत्मा वाऽरे० इत्यादि विधिनैकवाक्यतामाश्रित्य कार्यपरत्वं - वर्णनीयम्। 'भूतं भव्याय' इति न्यायात्। साध्यशेषभूतं सिद्धिमिति न्यायादित्दर्थः। तं०र०, पृ० ४१

चतुर्थ अध्याय
शास्त्र-प्रमेय रहस्य

लिङ्‌दि प्रत्यय का वाच्य अपूर्व रूप कार्य ही शास्त्र-प्रमेय कहलाता है। इसी को विधितत्त्व कहा गया है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्र विधिपरक ही है। लिङ्‌दि प्रत्यय के विधि वाच्य के विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न दृष्टि रही है। रामानुज[1] सभी मतों पर विचार करते हुए अपूर्व रूप कार्य को ही सिद्धान्ततः लिङ्‌दि का वाच्य स्थापित करते हैं।

कुमारिल भट्ट के अनुसार विधि विचार

कुमारिल ने अभिधा भावना को लिङ्‌दि का वाच्य माना है। अभिधा भावना का अर्थ - 'शाब्दी भावना है।'[2] लिङ्‌दि में 'लिङ्' पद से लिङ्‌लकार और आदि पद से लेट, लोट् और तव्य का ग्रहण किया है। आर्थी भावना समस्त आख्यातों की वाच्य है। इस आख्यात शब्द से तिप् तस् आदि एवं ईत ईयातान् ईरन् आदि समस्त स्थानिक प्रत्यय भी कहे जाते हैं। शाब्दी भावना लिङ्‌दि द्वारा कही जाती है और आर्थी भावना स्पष्ट आख्यातों की वाच्य है - जिसमें लिङ्‌दि भी सम्मिलित है।[3] यह भावनाद्वय ही किसी प्रयोजन से प्रवृत्ति का कारण है।

रामानुज कुमारिल[4] की 'अभिधा भावनामाहुः' इस कारिका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - 'लिङादीनां तु भावना द्वयमपि वाच्यम्' अर्थात् 'यजेत' में लिङ के साथ ईत यह आख्यात भी जुड़ा है - अतः यह दोनों भावनाओं का वाच्य है - इस प्रकार लिङ्‌त्व तो लिङ् में ही रहता

---

१. ... तच्चापूर्वरूपं कार्यं लिङादिप्रत्यय वाच्यम्। तं०र०, पृ० ४२

२. तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना। अ०सं०, पृ० ११

३. मी०न्या०प्र०, पृ० १-१० (पं० षट्टाभिराम शास्त्री कृत बालतोषणी)

४. अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचरः॥ तं०वा० २.१.१ (तं०र० में उद्धृत, पृ० ४३)

५. तं०र०, पृ० ४२

है और आस्थातत्व लिङस्थानिक प्रत्ययों में भी रहता है।[१] कुमारिल की उक्तमान्यता की भी उनके समर्थकों ने विविध प्रकार से व्याख्या की है।

मण्डनमिश्र सम्मत विधि विचार

'स्वर्ग कामो यजेत' इस वाक्य को सुनकर जो पुरुष की प्रवृत्ति होती है- उसका मूल इष्टसाधना-ज्ञान है - वही उसका प्रवर्तक होता है। इस इष्ट साधन ज्ञान का निमित्त लिङादि प्रत्यय से प्रतिपादित शाब्दी-भावना है। प्रकृति-प्रत्यय का भी इष्ट साधनत्व ही वाक्य है - अतः इष्ट साधनता ही मण्डन मिश्र के अनुसार विध्यर्थ है।[२]

तन्त्रवार्तिक में मण्डनमिश्र कहते हैं कि बिना इष्टाभ्युपाय के पुरुष की प्रवृत्ति का कोई और कारण नहीं है।[३] न्यायकणिकार भी यही मानते हैं।[४]

मण्डन की इस मान्यता का उन्हीं के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र ने न्याय रत्न माला में खण्डन किया है।[५]

पार्थसारथि कृत मण्डनमिश्र मत परीक्षण

यागानुरक्त व्यापार 'इष्टाभ्युपाय' और 'यजत' इन दोनों से समान ज्ञान नहीं होता - इसलिए संविद् विरोध होने से इसे अभिधेय नहीं माना जा सकता। दूसरा हेतु यह है कि दो पर्यायों का ही सहप्रयोग भी है - लोक में समीहित साधनता और विधि का तो एक साथ प्रयोग हो सकता है जैसे 'माणवक! सम्ध्यामुपासीनस्य तेऽभ्युदयो भविता। तस्मादुपास्व' लेकिन पर्यायों का साथ प्रयोग उचित नहीं। अतः अभिधाभावनामाहुः इस कुमारिल वचन के अनुरूप न होने से पार्थसारथि ने इष्ट साधनता को

---

१. मी०न्या०प्र०, पृ० १० (बा०तो० हिन्दी व्याख्या)

२. तं०र०, पृ० ४२

३. पुंसा नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्।। वि०वि०, पृ० १७३ / (तं०र० में उद्धृत, पृ० ४२)

४. न्यायकाणिका वि०वि०, पृ० १७३

५. न्या०र०मा०, पृ० १७३

लिङादि का बोधक नहीं माना है।[१]

रामानुज का मत

यदि लिङ्‌ादि प्रत्यय को विधि मानने पर प्रत्येक सुनने वाले की प्रवृत्ति होने लगेगी - व्युत्पन्न लोगों का ही प्रवर्तकत्व होने का नियम भङ्‌ग हो जायेगा। यदि इसे इष्टसाधनता के रूप में माना गया तो इसका पहले ही खण्डन किया जा चुका है।[२]

प्राभाकारों द्वारा लिङादि प्रत्यय व्यापार का खण्डन

कई भाट्ट मतानुयायी 'लिङादयो हि प्रेरणां कुर्वन्ति चाभिदधति च' इस वचन के आधार पर प्रेरणा को ही कारण होने से लिङादि प्रत्यय का वाच्य मानते हैं तदनुसार 'भावयेत्' इत्यादि भी संयुक्त हो जाता है अर्थात् 'यजेत' के स्थान पर 'यज्ञेन भावयेत्' यह प्रयोग बन जाता है। शालिकनाथ ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि[३] ... लिङादेस्तादृशो व्यापारो विद्यत इत्यत्र न किञ्चन प्रमाणम्। भाट्ट मत में समीहित साधनता निमित्त है लेकिन रामानुज के मत में कार्यता निमित्त है।[४] इस प्रकार रामानुज से पहले ही शालिकनाथ ने तन्त्रवार्तिक की इन मान्यताओं का वाक्यार्थ भाट्ट का के द्वितीय परिच्छेद में खण्डन कर दिया है।[५]

रामानुज द्वारा प्रेरणा के विध्यर्थ होने का खण्डन

रामानुज की दृष्टि में प्रेरणा विध्यर्थ नहीं हो सकती। भाट्टमत में शब्द को द्रव्य माना गया है। वायु आदि उसके प्रेरक हैं। यहाँ पर रामानुज कहते हैं कि उस प्रेरणा का भाव्य यदि तद्विषया मानकर पुरुष की प्रवृत्ति को माना जाता है तो यह उचित नहीं क्योंकि उस प्रेरणा का विषय पुरुष

---

१. तं०र०, पृ० ४३
२. तं०र०, पृ० ४४
३. वा०मातृ०, पृ० ६९ (द्वि० परि०)
४. तं०र०, पृ० ४४
५. प्र०पं० (वा०मातृ० द्वि० परि०), पृ० ७१ से ७३ तक

ही है भावना नहीं - क्योंकि लोक में पुरुष ही प्रेरित होता है अत: भावना का तद्विषयत्व नहीं बन सकता।

दूसरी बात यह है कि भाट्ट मत में भावना वाच्य है और प्रेरणा क्रिया है तथा उसका फल प्रवृत्ति है। क्रिया कभी भी अपने फलोत्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा नहीं रखती - केवल अपनी उत्पत्ति के लिए ही वह कारण सापेक्षा है अथवा कारण की अपेक्षा रखती है। अत: सम्बन्ध ज्ञान भी करण नहीं है।[१]

कुमारिल के अनुसार[२] एक ही विधिलिङ् प्रत्यय में शाब्दी[३] और आर्थी[४] ये दो भावनाएँ रहती हैं - इन्हें क्रमश: प्रवर्तना और व्यापार भी कहते हैं। कुमारिल यह भी कहते हैं कि धात्वर्थ से पूर्व ही विधि और भावना में एक प्रत्यय ग्राह्यता मूलक सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है। प्राभाकर और भाट्टों में इस विषय में विरोध यह है कि भाट्ट लिङ्गादि को प्रेरणापरक और समस्त आख्यातों को भावनापरक मानते हैं जबकि प्राभाकर लिङादि में ही कार्यपरत्व और भावनापरत्व को मानते हैं।[५] इस सम्बन्ध में कुमारिल का मत है कि आख्यातों में भाव वाचित्व होता है। क्या किया? पकाया। क्या करेगा? पकायेगा - इत्यादि जो प्रतीतियाँ हैं वे सब 'करोति' अर्थ को कह रही है। यदि 'कृ' के आगे 'घञ्' इस कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग हो जाता है[६] तो उक्त करोत्यर्थ की प्रतीति नहीं होगी - अत: इससे आख्यात प्रत्ययों से भावनाकी सिद्धि होती है।

रामानुज का मत है कि प्रथम तो शब्द व्यापार और आर्थी-भावना इन दोनों की एक प्रत्ययावाच्यता ही दुर्घट है[७] क्योंकि एक ही विधि प्रत्यय

१. तं०र०, पृ० ४४

२. विधिभावनयोश्चैकप्रत्ययग्राह्यताकृत:।
धात्वार्थात् प्रथमं तावत्सम्बन्धोऽध्यवसीयते।। श्लो०वा० वाक्या०, ७९

३. अ०सं०, पृ० १९

४. प्रयोजनेच्छाजनिताक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। अ०स०, पृ० ३१

५. तं०र०, पृ० ४५

६. धात्वर्थ: कारकैरेव गुणभूतोऽवगम्यते।
भावनात्माकृदन्तेष तस्मान्नैवाभिधीयते।। तं०वा० २/१/१

७. तदयुक्तम्। उभय प्रत्ययवाच्यत्वस्यैव दुर्घटत्वात्। तं०र०, पृ० ४५

से दो अभिधा-व्यापारों से दो अर्थों ज्ञान कैसे हो सकता है? आख्यात से भावना भी सिद्ध नहीं होती - क्योंकि 'किं करोति?' इस प्रकार का उत्तर यदि 'पचति' है तब तो 'पचति' पर 'पाकं करोति' अर्थ उचित होने से उस स्थिति में आख्यात प्रत्यय की करोत्यर्थता बन सकती है। लेकिन वस्तु स्थिति कुछ और है - प्रश्न हमेशा लोक में अज्ञात स्थिति में ही किया जाता है। अतः 'पचति' उत्तर तो विशेष विषयक होने से उचित है लेकिन 'पाकं करोति' अलग से यह करोत्यर्थक व्यापार सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञाता ज्ञातता अथवा प्रश्नोत्तर धातु के विषय में ही उठते हैं अतः धातु से अलग आख्यात से भावना की सिद्धि नहीं होती[१] शालिकनाथ ने भी ऐसा ही माना है।[२]

'पाकं करोति' यहाँ पर भी प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ का ही है - ऐसी कोई यदि शङ्का करे तो वह उचित नहीं - क्योंकि आख्यात प्रत्यय तो धात्वर्थ से आक्षिप्त कर्तृसंख्या मात्र के वाची है।[३] जैसा कि पाणिनि ने वचन विभाग किया है।[४]

रामानुज सम्मत सिद्धान्त पक्ष

रामानुज के मत में लिङादि कार्यपरक और भावनापरक होते हैं।[५] कार्य की अपेक्षा भावना गौण रूप से रहती है - अतः रामानुज के मत में भावना वाक्य का अर्थ नहीं होता अपितु कार्य ही वाक्यार्थ होता है।[६] कार्य का भी कृति करणीयता से भिन्न अभिधान नहीं हो सकता कृति से सम्बन्धित ही रहता है।[७] जबकि कुमारिल सभी आख्यातों को भावनापरक

---

१. तं०र०, पृ० ४५
२. प्र०पं० (वा० मातृ० द्वि० परि०), पृ० ७१-७३
३. अतो नाख्यातानां भाववचनत्वम्। किंतु धात्वर्थाक्षिप्त कर्तृसङ्ख्यामात्र वाचित्वम्।
४. अष्टाध्यायी पाणिनि (१-४-२१, २२)
५. तं०र०, पृ० ४५
६. अस्मन्मते भावना न वाक्यार्थः किन्तु कार्यमेव। तं०र०, पृ० ४६
७. कृति सम्बन्धि हि कार्यं कृत्यनभिधाने नाभिहितं स्यात। न ह्यस्ति सम्भवः, कृतिश्च नाभिधीयते, कार्यञ्चाभिधीयते इति। प्र०पं०वा०मातृ० द्वि० परि०, पृ० ७४

और लिङादि को प्रेरणापरक मानते हैं। जैसे प्रत्यय से दण्ड धारण करने वाले का ही ज्ञान होता है। दण्ड का नहीं वैसे ही कृति को छोड़कर कार्य का अभिधान मानने की शङ्का भी उचित नहीं – क्योंकि दण्ड की प्रतीति के बिना दण्डी की प्रतीति नहीं हो सकती। प्रकृति भूत दण्ड शब्द भी यहाँ पर विद्यमान है जबकि 'यजेत' इत्यादि में तो लिङ के द्वारा पुरुष की कार्यता का ही ज्ञान होता है। जो कृति रहित कार्य की प्रतीति ही लिङादि का अर्थ करते हैं उनके प्रति शालिकनाथ कहते हैं कि – जैसे चाँद के निर्मल प्रकाश के बिना कृष्ण पक्ष अच्छा नहीं लगता इसी प्रकार यह पक्ष भी मनोरम नहीं लगता है।[१]

रामानुज कृत 'अभिधाभावनामाहुः' का परीक्षण

सभी शब्दों में अभिधा व्यापार होता है। शब्द प्रथम तो अपने अर्थों का अभिधान करते हैं उस अर्थ प्रतीति से ही अभिधा अभिधान व्यापार-ज्ञात होता है। वह ज्ञान या संस्कार रूप होता है। उस ज्ञान संस्कार से ही शब्द अर्थ-ज्ञान को उत्पन्न करता है – क्योंकि 'यद्वस्तु यमेवागन्तुकधर्मं प्राप्य कार्याय पर्याप्तं, स एवागन्तुकधर्मस्तस्य व्यापार इति ज्ञानसंस्कारयोर्न शब्द व्यापारत्वानुपपत्तिः।' यहाँ शङ्का होती है कि यदि ज्ञान की अभिधा व्यापार है तब ज्ञान के प्रति कर्मीभूत शब्द इस व्यापार में कारण कैसे होगा? इसका परिहार यह है कि उस व्यापार की अपेक्षा से कर्त्ता कर्म आदि की व्यवस्था नहीं है – अपितु व्यापार का स्वरूप एक होने पर भी उसी व्यापार के उस फल की अपेक्षा के आधार पर होती है।

जब व्यापार के प्रति स्वातन्त्र्य विवक्षा होती है तब शब्द अर्थ को धारण करता है तब कर्ता, ज्ञान का विषय बनने पर कर्म हो जाता है – यथा 'शब्दं जानाति' उस स्थिति में ज्ञान उस शब्द से अभिधात्व को प्राप्त नहीं होता अपितु वह ज्ञानमात्र ही कहलाता है क्योंकि वहाँ अभिधा शब्द की व्युत्पत्ति नहीं है।[२]

१. सितेतर इव त्वेष पक्षश्चित्तं न कर्षति।
चन्द्रातपामलन्यायप्रवासमलिनीकृतः। वा०मातृ०द्वि०परि०, पृ० ९१, श्लोक ३४

२. तं०र०, पृ० ४६-४७

कारक व्यवस्था स्वरूप विचार

धातु वाच्य व्यापार का स्वरूप एक होने पर भी कारक व्यवस्था फल के आधार पर होती है। एक उदाहरण द्वारा इस विषय को स्पष्टतः जाना जा सकता है - जैसे - 'परशु से काठ को काटता है' इस वाक्य में - अन्यार्थ प्रवृत्तव्यापार व्याप्य होने से परशु 'करण' हो जाता है, उस व्यापार के प्रति स्वातन्त्र्य विवक्षा होने पर परशुः 'कर्ता' और जब (उठाना और गिराना रूप) क्रिया से अभिहित होता तब वही परशु कर्म हो जाता है। यह सब विवक्षा पर आधारित है। जैसे कर्ता, कर्म आदि की व्यवस्था है - फल और विवक्षा के आधार पर इनका प्रयोग होता है वैसे ही अभिधा व्यापार में भी समायोजन समझना चाहिए।[१] इसी प्रकार प्रकृति और प्रत्यय में भी यह अभिधा व्यापार है। लिङादि में भी एक ही लिङादि अभिधा व्यापार पुरुष प्रवृत्तिभवन फलवाला होने से भावना तथा प्रवृत्ति कराने से प्रवर्तना कहलाता है।

भावना[२] ही प्रवृत्ति का मूल

लिङादि द्वारा जो प्रवृत्ति होती है वह प्रत्यय श्रवण के बाद होती है इसमें 'अभिधेय प्रवर्तना है और प्रवृत्ति हेतुता प्रवर्तना'[३] कहलाती है और वह प्रवर्तना इष्टसाधनता के ज्ञान के बिना नहीं होती[४] इस सम्पूर्ण विधि व्यापार में सर्वप्रथम भावना का ही संस्पर्श है उसी के द्वारा करण-इतिकर्तव्यता आदि सम्पन्न होते हैं अतः उसी का विधयेत्व है। इस प्रकार अभिधा प्रवर्तना है। वही पुरुष को भावित करती है वह भावना ही वाक्यार्थ है और वही शास्त्र प्रमेय है यह रामानुज के अनुसार कुमारिल मत का सार है।

रामानुज के मत में लिङादि कार्यपरत्व तथा नियोज्यान्वय

रामानुज के मत में लिङादि कार्यपरक है स्वर्गकामो यजेत - इसमें स्वर्गकामादि कर्तृमात्र परक नहीं है अपितु नियोज्य परक है। सूत्रकार

---

१. तं०र०, पृ० ४७

२. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः। अ०सं०, पृ० १८

३. प्रवर्तना - प्रेरणा, उपदेश, विधि इत्यादि द्वारा भी कही जाती है - द्र०अ०सं० भूमिका - डॉ० वाचस्पति उपाध्याय

४. श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते। श्लो०वा० २-१४

जैमिनि ने षष्ठ अध्याय के प्रथम अधिकरण में इस विषय में स्पष्ट किया है।[१] नियोज्य उसे कहते हैं 'यह मेरा कार्य है' जो इस प्रकार सम्बन्धी के रूप में कार्य को जान लेता है।[२] शालिकनाथ भी यही मानते हैं।[३] बोद्धा के रूप में अन्वय का होना ही नियोज्यान्वय है जैसे 'पुष्टिकामः क्षीरं पिषेत्' यहाँ पर 'क्षीरपानं मया कार्यम्' की बोध्यता नियोग के प्रति निमित्त होगी।

यदि यह शङ्का की जाय कि कर्म शक्ति को ही मान लेना चाहिए अपूर्व की कल्पना क्यों की जाये? रामानुज के अनुसार - जब कर्म ही नष्ट हो गया तब उससे सम्बन्धी वह शक्ति कैसे बचेगी। शक्तिमान कर्म नष्ट हो जाये और शक्ति बनी रहे - यह सब प्रमाण विरुद्ध है[४] अतः शालिकनाथ कहते हैं कि 'कार्यकालान्तरस्थायि क्रियातो भिन्नमुच्यते'[५] और वह कार्य अपूर्व रूप है। कोई भी क्रिया शीघ्र फल नहीं देती विशेषतः यागादि जन्य पुण्य तो जन्म-जन्मान्तरों तक कर्ता को जोड़े रखते हैं। अतः रामानुज की विचार परम्परा में लौकिक क्षणभङ्गुर क्रियाओं में अपूर्व नहीं माना जा सकता। इससे भिन्न ही वह अपूर्व रूप कार्य है जिसको उद्देश्य करके लिङादि की प्रवृत्ति होती है।[६]

भाट्ट के मत में इष्ट साधनता ही कार्य है और वह कार्य भी प्रत्यक्ष तथा अनुमानवैद्य है कृतिमानस प्रत्यक्ष वैद्य है फिर अपूर्व की कल्पना क्यों की जाये? यह पूर्वपक्ष की शङ्का है। अथवा पाणिनि के अनुसार 'विधिनिमन्त्रणा०'[७] इत्यादि के योग में या फिर भर्तृहरि, भट्टसोमेश्वर, खण्डदेव प्रभृति के मतानुसार प्रेषादि को लिङार्थ मान लेना चाहिए? इसके साथ ही- साधन की अपेक्षा साध्य को महत्त्व देना चाहिए - नियोग तो साधन मात्र है उसको प्राभाकर महत्त्व इतना अधिक क्यों देते हैं?

१. जैमिनि प्रणीत मीमांसा दर्शन। षष्ठ अध्याय प्र० अधि०
२. नियोज्यस्स उच्यते यो ममेदं कार्यमिति स्वसम्बन्धितया कार्यमवैति। तं०र०, पृ० ५४
३. प्र०पं० (वा०मा द्वि० परि०)
४. क्रियास्थापिता च प्रमाणान्तरविरुद्धा। शक्तिमति कर्मणि च नष्टे शक्तेरवस्थानं विरुद्धम्। तं०र०, पृ० ५५
५. प्र० पं० (वा० मातृ० द्वि० परि०) २३वाँ श्लोक
६. तं०र०, पृ० ५५-५६
७. अष्टाध्यायी (पाणिनि) ३-३-१६१

प्रेषादि लिङर्थ नहीं

रामानुज उत्तर देते हैं कि प्रवर्त्य पुरुष की अपेक्षा ज्येष्ठ पुरुष के द्वारा प्रतिपादित कार्य प्रैष, समान पुरुष द्वारा प्रतिपादित आमन्त्रण और हीन पुरुष से प्रतिपादित अध्येषण कहलाता है - इनको लिङर्थ मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि कार्य ही तत्तत सम्बन्धी भेद से प्रेषादि को प्राप्त होता है।[१]

उक्त शङ्काओं के परिहार में कहते हैं कि हमारे मत में फल की भाव्यता नहीं है फल तो नियोज्य का विशेषण है। हमारे मत में तो अपूर्व की ही भव्यता है।[२] नियोज्य के साथ अन्वय हुए बिना अपूर्व रूप कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती - इस प्रकार नियोग आत्म सिद्धि के लिए नियोज्य का उपकार करता है जैसे स्वामी गर्भदास का उपकार करता है।[३] शालिकनाथ भी यही स्वीकार करते हैं।[४] इस प्रकार 'विश्वजितां' आदि में लिङ से अपूर्व को मानते हुए रामानुज नियोग और नियोज्य को स्पष्ट करते हुए उसी से स्वर्ग की कल्पना करते हैं - 'यो हि मदीयमिदं कर्मेति नियोज्यत्वमन्तरेण। यो हि नियोगं ममेदं कार्यमिति जानाति, स एतत्साधनं कर्म मदीयकार्यसाधनतया मदर्थमित्यध्यवस्यति। ....सर्वापेक्षितः स्वर्गः परिकल्प्यते।'[५]

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते[६] इस कुमारिल के वचन से अभिहित इष्ट साधनता को भी रामानुज ने प्रवृत्ति प्रयोजिका नहीं माना।[७]

---

१. तं०र०, पृ० ५७
२. न ह्यस्मन्मते फलस्य भाव्यत्वम्।
किन्त्वपूर्वस्यैव। फलं तु नियोज्य विशेषणम्। तं०र०, पृ० ५७
३. वा० मातृ० द्वि० परि०, पृ० ८८
४. आत्मसिध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।
कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः।। वा० मातृ० द्वि० परि०, पृ० ८८
५. तं०र०, पृ० ५८
६. श्लो० वा सम्बन्धाधिकरण ५५
७. तं०र०, पृ० ५६

प्रभाकर मत में कार्य स्वरूप

प्राभाकर मीमांसक कार्य की द्वि प्रकारता मानते हैं १. क्रिया रूप २. नियोग रूप। क्रिया रूप में कर्ता गुणभूत है और नियोग रूप में नियोज्य गुणभूत है। इन दोनों में गौणभाव समान रूप से है। इसके अनन्तर भी जिसके प्रति जिसका गुणीभाव होगा उसके प्रति वही नियोज्य होगा – यह प्राभाकरीय मान्यता है।[१]

बौद्धा के रूप में अन्वय होना नियोज्यत्व कहलाता है और ज्ञान होने पर नियुक्ति अर्थात् 'मैं इस कार्य में नियुक्त किया गया हूँ'[२] यह नियोग कहलाता है। शालिकनाथ कहते हैं कि नियोग रूप कार्य ही नियोज्य को स्वात्म में प्रेरित करता है। इसलिए मीमांसक उसे कार्य के रूप में ही मानते हैं।[३]

रामानुज के अनुसार अपूर्व के साथ पुरुष का अन्वयक्रम

सर्वप्रथम स्वर्ग की कामना वाला पुरुष अपूर्व के प्रति नियोज्य (बौद्धा) के रूप में 'यह कार्य मेरा है' इस प्रकार अन्वय होता है। इसके बाद उस काम को सिद्ध करने की भावना से 'मुझे यह काम करना चाहिए' अथवा मैं इस कार्य में नियुक्त किया गया हूँ यह **कर्माधिकारी** के रूप में अन्वय है। इसके बाद उस कार्य के विषय में मादर्थ्यज्ञान अर्थात् यह कार्य तो मैंने किया है ऐसा मादर्थ्य **ज्ञानाधिकार** का अन्वय होता है। ये एक ही पुरुष की तीन अवस्थाएँ हैं। इनमें नियोज्य तो नियोग का (गुणीभूत है शेष दो अवस्थाएँ क्रिया या कर्म में है जहाँ कर्ता पुरुष गुणीभूत है।)[४]

---

१. प्र०पं०, पृ० ४४१ (वाक्या० मा० द्वि० परि०) द्र० टिप्पणी २
२. वा० मातृ० द्वि० परि०, पृ० ८६ (हिन्दी)
३. कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसा निष्णातैरमिधीयते।। वा०मातृ०द्वि०परि०, पृ० ८६, श्लो० २६
४. तं०र०, पृ० ५८

अपूर्व की चार अवस्थाएँ

जैसे पुरुष की अपूर्व के साथ अन्विति में तीन अवस्थाएँ है वैसे ही अपूर्व भी चार अवस्था वाला है। अपने में पुरुष को नियुक्त करता हुआ **'नियोग'** स्वप्रकरण पठित पदार्थ को ग्रहण करता हुआ **'ग्राहक'**, श्रुति आदि द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से विनियुक्त करता हुआ **विनियोजक** और कर्तव्य कलापों में प्रयुक्त करता हुआ प्रयोजक कहलाता है। ये चार अवस्थाएँ अधिकारापूर्व की ही है। अङ्गप्रधानोत्पत्यपूर्व की नहीं।[१]

निष्कर्ष

रामानुज के मत में लिङादि का वाच्य अपूर्व रूप कार्य ही है। कार्य की ही प्रधानता रहती है वही वाक्यार्थ है। लिङादि साक्षात् रूप से उसी में तत्पर है। इतर वाक्य भी अपने-अपने अर्थ के साथ कार्य में ही अन्वित होते हैं। यह कार्य कृति (करणीयता) पर आधारित है। कार्य की भी दो अवस्थाएँ - क्रिया रूप तथा नियोग रूप। अखिल वेद-ज्ञान कार्यपरता में ही प्रमाण है। सम्पूर्ण कर्मकाण्ड कार्यता में ही अनुस्यूत है। अपूर्व रूप कार्य ही भाव्य है। अपूर्व ही स्वर्ग का आधार है।

---

१. तं०र०, पृ० ५९

पञ्चम अध्याय
शास्त्रारम्भ रहस्य

वेदाध्ययन के बाद मीमांसा शास्त्र का अध्ययन अभीष्ट है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक विवादों का परिहार करके रामानुज ने मीमांसा विचार वेदाध्ययन के बाद करना चाहिए। इस मान्यता को सैद्धान्तिक रूप से स्थापित एवं पुष्ट किया है। शास्त्र शब्द प्रथमतः तो वेद के लिए ही आया है[१] क्योंकि सम्पूर्ण विधि नामक धर्मतत्त्व वेद में ही प्रतिपादित है[२] जिसका उल्लेख महर्षि जैमिनी ने मीमांसा सूत्र के प्रारम्भ में दूसरे सूत्र में ही किया है।[३] यहाँ पर शास्त्र शब्द मीमांसा के लिए आया है क्योंकि मीमांसा शास्त्र की वेद को समझने में बहुत बड़ी भूमिका है अतः रामानुज कहते हैं कि वेद एवं उसका प्रतिपाद्य-धर्म मीमांसा के द्वारा ही जाना जाता है।[४]

रामानुज सम्मत मीमांसा की परिभाषा

वेद वाक्यार्थों में संशय होने पर उनके निर्णय के लिए जिस शास्त्र की रचना हुई है उसे रामानुज ने 'मीमांसा' कहा है।[५]

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विषय को लेकर तीन प्रश्न उठते हैं- १. क्या वेदाध्ययन के बाद मीमांसा प्रारम्भ करना चाहिए या नहीं २. क्या वेदाध्ययन (स्वाध्याय) अर्थ-ज्ञान भी कराता है और ३. क्या स्वाध्याय से अर्थ-ज्ञान होता है अथवा स्वर्ग प्राप्ति? पार्थ सारथि ने भी न्यायरत्नमाला में इस समस्या पर विचार किया है।[६]

सर्वप्रथम 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'[७] इस कथन को समझना उचित

१. तं०र० शास्त्रा० परि०, पृ० ६५, शा०भा० १-१-५
२. तत्प्रतिपाद्यं च सपरिकरं विध्याख्यं धर्मतत्त्वमित्युक्तम् तं०र०, पृ० ६५
३. जै०सू० १-१-२
४. वेदैकसमधिगम्यत्वं च तत्र ..... मीमांसापेक्ष एवं ....। तं०र०, पृ० ६५
५. वेदवाक्यार्थसंशये सति तन्निर्णयौपयिकन्यायनिबन्धनं शास्त्रं मीमांसा। वही
६. द्र० न्याय० र०, प्र०प्र०
७. तै०आ० २/१५

होगा। यहाँ पर दो शब्द है - स्वाध्याय और अध्येतव्य। रामानुज ने स्वाध्याय शब्द से स्वशाखा का ग्रहण किया है[१] पं० पट्टाभिराम शास्त्री ने स्वाध्याय में 'स्व' शब्द को कुलपरम्परा का बोधक माना है और अधीयत इत्यध्यायः इस व्युत्पत्ति से अध्याय का अर्थ है - वेद-शाखा। अध्येतव्य का अर्थ गुरुमुख से उच्चरित वेद वाक्यों का अनुच्चारण रूप अध्ययन है- इस प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का अर्थ स्वकुल परम्परागत वेदशाखा अध्ययन है।[२]

रामानुज द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष

पूर्वपक्ष के अनुसार 'तव्य' प्रत्यय से प्रेरणा प्रतीत होती है। भावना का भाव्य अध्ययन नहीं हो सकता क्योंकि अध्ययन में पुरुषार्थ का अभाव होने से पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी जबकि भावना स्वभावतः (किम्? केन? और कथम्?) इस आकांक्षात्रय की पूर्ति में पुरुषार्थ परक होती है। स्वाध्याय तो बिना विधि के भी अन्वय व्यतिरेक से गृहीत हो जाता है- ऐसे तो विधि में भी निरर्थकता आ जायेगी।

अध्ययन के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है। अध्ययन से स्वाध्याय को सम्पन्न करे यह स्वरूप प्राप्ति नियम भी प्रमाणान्तर विरुद्ध है - क्योंकि अनधीत पुरुष भी दूसरे के अध्ययन श्रवण से अथवा पुस्तक पठन से स्वाध्याय को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार अर्थ बोध भी भाव्य नहीं है यद्यपि यह वाक्यार्थ ज्ञान और पुरुषार्थ से युक्त है लेकिन यह सब तो बिना विधिविधान के भी हो सकता है - विधि के बिना ही अन्वयव्यतिरेक से अर्थ ज्ञानादि की सिद्धि हो जायेगी। ऐसे तो विधि भी निरर्थक हो जायेगी। दूसरी बात, स्वाध्याय मूलक ज्ञान क्रतु-अनुष्ठान का अङ्ग बने - ऐसा भी कोई नियम नहीं है क्योंकि क्रतु इससे संस्पृष्ट नहीं है। 'यदृचोऽधीते'.... यहाँ से लेकर 'त एनं तृप्ता आयुषा०' इत्यादि तक अध्ययन से प्रसन्न देवता द्वारा आयु आदि की प्राप्ति अर्थवाद भाष्य है।

१. स्वशाखा हि स्वाध्यायशब्देनोच्यते। तं०र०, पृ० ७२

२. मीमांसा न्याय प्रकाश, पृ० १९

अध्ययन करण है तथा स्वाध्याय निर्वर्तक है। इसी प्रकार 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते... एता रात्रीरुपयन्ति' यहाँ पर भी विश्वजित् न्याय से अश्रुत स्वर्ग आदि की कल्पना गौरव दोष युक्त होने से, श्रुत अर्थवादादिक के रूप में प्रतिष्ठाख्य फल ही भाष्य है।[१]

लोक में विवक्षा की प्रधानता है। यदि विवक्षा ही नहीं है फिर प्रतीयमान अर्थ भी प्रयोजन रहित होने से अविचारणीय है और जब उस पर विचार ही नहीं करना तो उसके उपाय और न्यायों का ज्ञान भी अनुपयोगी है अतः अनुपयुक्त होने से मीमांसाशास्त्र प्रारम्भ नहीं करना चाहिए यह पूर्वपक्ष है।[२]

विश्वजित् न्याय का अभिप्राय

विश्वजिन्न्याय से पूर्वपक्ष में अध्ययन भावना का भाव्य स्वर्ग माना गया है। जैसे अश्रुत फल वाली विश्वजित्-भावना का फल स्वर्ग माना जाता है वैसे ही अध्ययन-भावना को भी समझना चाहिए। वेदाध्ययन के बाद गृहस्थ में प्रवेश करके वेदार्थ पर विचार करे या न करे - यह स्वेच्छा पर है। अध्ययन के बाद नियमतः अर्थ विचार करने का कोई दृढ़ सिद्धान्त[३] नहीं है।

पार्थसारथि मिश्र ने भी अध्ययनविधि में अर्थवादिक फल न होने से तथा प्राशस्त्यमात्र के होने से इस तथ्य को पूर्वपक्ष में दिखाया है।[४]

सिद्धान्तपक्ष

अध्येतव्य में 'तव्य' प्रत्यय से स्वाध्याय का कर्मत्व अवगम होने से सिद्धान्ततः स्वाध्याय को ही अध्ययन का भाव्य माना जाना चाहिए। अध्ययन क्रिया भी सकर्मक है। यद्यपि स्वाध्याय अविकार्य तथा नित्य है

१. तं०र०, पृ० ६६ (पूर्वपक्ष)
२. तदनुपयोगे च तन्निबन्धनं मीमांसाशास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वः पक्षः। तं०र०, पृ० ६६
३. तं०र० (पूर्वपक्ष)
४. न्या०र०मा० प्रयुक्तितिलक, पृ० १९
द्र०- आद्येत्वध्ययने नैव काचिदस्ति फलश्रुतिः।
धारणे जपयज्ञे च फलश्रुतिरियं यतः।। १-३५

तथापि उसमें प्राप्य कर्मता (पुरुषार्थता) है अत: अध्ययन ही भाष्य है। यहाँ शङ्का होती है कि यदि अध्ययन को ही भाष्य मान लिया जायेगा तब विधि निरर्थक हो जायेगी?

अध्ययनविधि का नियामकत्व पक्ष : समस्या एवं समाधान

उक्त शङ्का के परिहार में रामानुज भाट्ट मत की ओर से विधि को नियमार्थ होने से सार्थक सिद्ध करते हैं। क्रतु-संस्पर्श का अभाव होने से उसके नियामकत्व का प्रतिषेध किया जाना भी उचित नहीं क्योंकि विधि स्वभावत: अर्थयुक्त होने से उसमें नियमन हैं अन्यथा तो शब्दों की स्वाभाविक अर्थपरता ही समाप्त हो जायेगी।[१] अर्थवादों, मन्त्रों, स्तोत्रों और उपनिषदों में जो भी कर्तृभोक्तृ एवं संसारी आत्मपरक वाक्य और कामनाओं की प्राप्ति है[२] वह सब अभ्युदय नि:श्रेयस रूपफल अध्ययन से प्राप्त वाक्यों से सम्पादित ज्ञान से सम्बन्धित है क्योंकि अध्ययन ज्ञान का अङ्ग है और ज्ञान क्रतु का अङ्ग है।[३]

कालव्रतादि का अध्ययन अङ्गत्व निरूपण

अध्ययन विधि को मानने वालों की ओर से[४] रामानुज ने 'वेदाङ्गानि रहस्यं कृष्णपक्षेषु सम्पठेत्' एवं 'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य' यथा - विधि - इत्यादि जो कालव्रतादि नियम है[५]... इनको भी अध्ययन का अङ्ग कहा है - इसी प्रकार उपनयन संस्कार[६] भी अध्ययन का अङ्ग है।

शबर के अनुसार वेदार्थ विचार शङ्का समाधान

वेदाध्ययन के बाद 'वेदमधीत्य स्नायातु' - इस वचन के अनुसार स्नान अर्थात् समावर्तन रूप स्नान करना चाहिए।[७] यहाँ पर शङ्का यह होती है कि एक तरफ तो 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इस सूत्र से धर्म जिज्ञासा करने

१. तं०र०, पृ० ६७, द्र० न्या०र०मा० प्रथम प्रकरण
२. य आत्माऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो पिपास: सत्यकाम: सत्यसङ्कल्प: सोऽन्वेष्टव्य: .....। छान्दोग्य अधि० ८, खं०, ७, पृ० ४२३
३. अध्ययनं तु ज्ञानाङ्गमेव। ..... तदापादितं ज्ञानं क्रत्वङ्गम्। तं०र०, पृ० ६९
४. भाट्ट-प्रभृति
५. मनु० ४-९५, ४-४८
६. वही, २-४९
७. स०द०सं०, पृ० ४५१-५२ (तृतीय संस्करण)

के लिए कहा गया है ओर दूसरी तरफ वेदाध्ययन करने के बाद स्नान रूप गृहस्थ-प्रवेश का विधान किया गया है ऐसी स्थिति में - धर्मजिज्ञासा फिर कब होगी? यदि यह माना जाय कि गृहस्थ में प्रवेश करने के बाद भी धर्म जिज्ञासा हो सकती है फिर 'धर्म जिज्ञासा करे और गुरुकुल में रहे' शबर के इस कथन की संगति कैसे लगेगी?[१] सर्वदर्शनकार ने वेदाध्ययन के तुरन्त बाद समावर्तन न मानकर 'स्नात्वा भुङक्ते' के समान दो क्रियाओं का एक कर्तृत्व दिखाते हुए अध्ययन और समावर्तन के बीच अव्यवधान का प्रतिषेध किया है।[२] वस्तुतः उक्त दोनों बातों में विरोध नहीं है - शबर ने स्वयं लक्षणा से अस्नान का पर्यवसान कहा है। अस्नान का अर्थ है गृहस्थ के प्रति विमुखता का पर्यवसान। वेदाध्ययन के बाद गृहस्थ में जाकर भी वेदार्थ विचार होना चाहिए। यहाँ पर समावर्तन के द्वारा ब्रह्मचारी के नियम गृहस्थ की मर्यादा में परिवर्तित हो गये - पहले से यही अन्तर है। जहाँ तक वेदाध्ययन के बाद भी धर्म ज्ञान के लिए गुरुकुल में रहने का प्रश्न है गृहस्थी भी गुरु चरणों में रहकर धर्म चर्चा करते रहे हैं- ऋषि मुनियों के युग इस बात के प्रमाण है। लक्षणा से गुरुकुल वास को न छोड़ने का अभिप्रायः गृहस्थ में जाने के बाद भी गुरुजनों के प्रति श्रद्धायुक्त सम्पर्क का अविच्छेद भी हो सकता है जिससे गुरुओं की सहायता से धर्म ज्ञान सम्बन्धी संशयों को वेदार्थ विचार के समय दूर किया जा सके।

रामानुज ने गुरुकुल में ही वेदार्थ विचार को पुष्ट किया है तथा मीमांसाविचार के बाद स्नान का उल्लेख किया है।[३] इसीलिए जैमिनी ने स्वयं आनन्तर्य द्योतक शास्त्र के प्रारम्भ में ही 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इस सूत्र की संरचना की।[४] कुमारिल ने भी निम्न श्लोक में वेदाध्ययन के बाद धर्म विचार का प्रतिपादन किया है -

१. .....गुरुकुलान्मा-समावर्तिष्ट। शा०मा० १-१-५

२. .....वेदमधीत्यस्नायादिति शास्त्रं गुरुकुलनिवृत्तिपरं व्यवधान प्रतिबन्धकं बाध्येतेति मन्तव्यम्। स्नात्वा भुङ्क्ते इतिवत् पूर्वापरीभावसमानकर्तृकत्वमात्रप्रतिपत्या अध्ययनसमावर्तनयोर्नैरन्तर्याप्रतिपत्तेः। स०द०सं०, पृ० ५३३ (प्रथम संस्करण) / पृ० ४५६ तृ० संस्करण

३. .....स्नानं मीमांसा श्रवणानन्तरभावितया स्वस्थानादुत्कृष्यते। तं०र०, पृ० ६८

४. जैमिनी सूत्र १-१-१

'अथातो धर्म जिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥'[१]

यहाँ पर 'अथ' शब्द आनन्तर्य का वाची है। 'अतः' शब्द हेतु-भाव में प्रयुक्त है और धर्म विषय है। रामानुज के अनुसार यहाँ अधर्म भी उपलक्षित है क्योंकि विना जिज्ञासा के उसकी निवृत्ति कैसी होगी? इन सबका उपाय मीमांसा विचार है।[२]

जिज्ञासा-त्रय प्रतिपादन

वेदाध्ययन के बाद धर्म जिज्ञासा होनी चाहिए। यह जिज्ञासा रामानुज ने तीन प्रकार से मानी है[३] -

१. उपनयन के बाद हितैषी वृद्धों से धर्माधर्म और अभ्युदयानम्युदय आदि के बारे में जानना चाहिए। इस प्रकार से सुनने वाले माणवक की प्रथम जिज्ञासा यह होती है कि धर्मादि क्या हैं? इनका ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है?
२. धर्मादि के ज्ञान का उपायभूत वेद का अध्ययन करने पर भी उसके ज्ञान का उदय न होने पर उन्हीं वृद्धों की सहायता से निरुद्ध व्याकरणादि पढ़ने की जिज्ञासा होती है।
३. इसके पश्चात् पदार्थ वाक्यार्थ प्रतीति होने पर भी संशय की स्थिति में न्याय निर्धारण के लिए मीमांसा की जिज्ञासा होती है। बृहट्टीकाकार ने भी इस जिज्ञासात्रय को इसी रूप में माना है।[४]

कुमारिल के मत में अध्ययन विधि

'अपरे' से कुमारिल की ओर संकेत करते हुए रामानुज ने उसके

---

१. तं०र०, पृ० ६८ पर (श्लोक वार्तिक १-११)
२. तं०र०, पृ० ६८
३. वही, पृ० ६८
४. जिज्ञासैकोपनीतस्य द्वितीया पठितश्रुतेः।
ज्ञातविद्यान्तरस्यान्या या मीमांसा पुरस्सरा॥ बृहट्टीका (तं०र०, पृ० ६८ पर)

मत में वाक्यार्थ ज्ञान को ही अध्ययन विधि का भाव्य बताया है।[१] तदनुसार दृष्ट के रहते अदृष्ट की कल्पना असंगत है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल के अनुसार[२] अतीत में उपयुक्त अथवा भविष्य में उपयोक्ष्यमाण द्रव्य ही संस्कार के लायक होता है अत: अध्ययन से अर्थज्ञान भावित करना रूप अप्राप्त-विधि है - अध्ययन से स्वाध्याय को भावित करना रूप संस्कार-विधि नहीं है।[३]

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार अध्ययनविधि

पार्थसारथि के अनुसार केवल अर्थ विज्ञान सिद्धि कराना ही अध्ययन विधि का प्रयोजन नहीं है[४] अपितु अहरहस्स्वाध्यायोऽध्येतव्य:... त्रिस्वाध्यायं वेदमधीयीत, तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति - इत्यादि वाक्यों में से जो भी अपेक्षित है वह सब अभीष्ट है।[५] अध्ययन विधि के अनेक प्रयोजन होने से विरूपता की शङ्का नहीं की जा सकती। 'अध्ययन से मनुष्य जो कुछ सिद्धि करना चाहता है वह सब करे' - इस एक ही वाक्य से सर्वार्थ लाभ होने से वैरुप्य नहीं बन सकता।[६] इस प्रकार प्रत्येक विधि में अध्ययन का अनुष्ठान आवश्यक है।[७] यह नित्य भी है। अध्ययन विधि के विना अर्थ-ज्ञान की सम्प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थ ज्ञान की कामना वाला ही अध्ययन का अधिकार रखता है।[८] कुछ विद्वानों के अनुसार अध्ययनाधिकार त्रैवर्णिकों का ही है। अत: वेदाध्ययनगुरुमुख से अक्षर ज्ञान के बाद अध्ययनविधि से वाक्यार्थविचार द्वारा धर्मजिज्ञासा को सम्पन्न करना चाहिए।

---

१. अध्येतव्य इत्यत्र वाक्यार्थ ज्ञानमेव भाव्यम्। तं०र०, पृ० ६८

२. भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हति।
सक्तवो नोपयोक्ष्यन्ते नोपयुक्ताश्च कुत्रचित्। वही, २-१-४, पृ० ४११ (मी०द०) / तन्त्ररहस्य में उद्धृत, पृ० ६९

३. तं०र०, पृ० ७०

४. न्या०र०मा० १-३९

५. यदेव हि विध्यन्तरापेक्षितमध्ययनसाध्यं दृश्यते तत्सर्वं प्रयोजनम्। तं०र०, पृ० ६९

६. वही, पृ० ७०

७. सर्वविध्यपेक्षिततयाऽऽधानवदावश्यकानुष्ठानं चाध्ययनम्। वही, पृ० ७०

८. न्या०र०मा०

रामानुज द्वारा स्वाध्याय के संस्कार्यत्व का खण्डन

पार्थसारथि प्रभृति भाट्टों ने स्वाध्याय में संस्कार्यत्व[१] का प्रतिपादन किया है जिसका रामानुज ने खण्डन किया है, क्योंकि इसका क्रतु अङ्ग के रूप में विनियोग हो पाना असम्भव है और अविनियुक्त कभी सत्य के सक्तू के समान संस्कारत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थज्ञान से 'पर्णता' (यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति) आदि के समान क्रतु सम्बन्ध भी नहीं बन सकता तथा क्रतु प्रयोग से बाहर भी अर्थ ज्ञान होने से - वह क्रतु सम्बन्ध व्यभिचरित होने लगेगा। क्रतु-प्रयोग के समय ही स्वाध्याय से अर्थज्ञान होता हो - अन्य समय में नहीं - ऐसा नियम भी नहीं बन सकता। जुह्व इत्यादि का तो अव्यभिचरित रूप से क्रतु सम्बन्ध होने से पर्णता का अङ्ग युक्त है।

अप्राप्तविधि मानने पर भी अर्थज्ञान द्वारा स्वाध्याय से संस्कार्यत्व नहीं बनता - क्योंकि अध्ययन-विधि के बिना प्रकरण के अधीत होने पर भी स्वाध्याय के द्वारा अर्थ ज्ञान होने पर इस प्रकार के विनियोग के देखे जाने से इसका भूत और भविष्य में उपयोग का अभाव है। साम से स्तुति के प्रसङ्ग में सामस्तोत्र विनियोग के बल से 'अर्चा' से भिन्न स्तोत्र के विनियोग का अभाव होने पर भी ऋग्वेद के वर्णों के संस्कार द्वारा - साम के स्तोत्रों के उपयोग से ऋचाओं का भी स्तोत्र विनियोग होने के समान अध्ययन का अर्थज्ञान होने पर विनियोग से स्वाध्याय का भी विनियोग सिद्ध हो जाता है - यह कहना भी उचित नहीं है - क्योंकि वहाँ भी श्रुति आदि विनियोजक प्रमाण के सम्भव न होने से ऋचाओं का स्तोत्र विनियोग अङ्गीकृत नहीं होता है।

रामानुज द्वारा 'अर्थज्ञान कामोऽधिकारी' का खण्डन

पार्थसारथि मिश्र ने अध्ययन विधि में अर्थज्ञान को महत्त्व देते हुए अर्थज्ञान की कामना रखने वाले त्रैवर्णिकों को ही अधिकारी माना है।[२]

१. संस्कार्यत्व का अर्थ यहाँ पर अर्थज्ञान रूपी फल का सम्पादन है। स०द०सं०, पृ० ४५४ (तृतीय सं०)

२. अध्ययनविधो त्रैवर्णिकानामेव विदुषामधिकारो भवति न तुरीयादेः। शा०दी०, पृ० ७

रामानुज कहते हैं कि ज्ञायमान अधिकार ही अध्ययन का प्रयोजन है। अध्ययन में प्रवृत्ति से पूर्ण माणवक को पूर्ण अर्थज्ञान नहीं रहता। हितैषी आचार्य प्रभृति अध्ययन से साध्य अधिकारी के लिए प्रेरणा करते हैं न कि कामना मात्र से वह अधिकारी बन जाता है।

इसलिए रामानुज का मत है कि यहाँ पर पर-प्रयुक्ति को मानना चाहिए[१] और वह भी वेदाध्यापन के रूप में मानी जानी उत्कृष्ट है - इसमें हितैषी अध्यापक का भी योगदान है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्टत: समझी जा सकती है - 'रौद्रं वास्तुमयं चरुं निर्वपेत्' इति प्रकृत्य 'एतया निषाद स्थपतिं याजयेत्' यहाँ द्रव्यार्जन में प्रवृत्त ऋत्विजों के द्वारा ज्ञाप्यमान होने पर भी निषादस्थपति स्वयं न जाना जाता हुआ स्थपत्यधिकार उसका प्रयोजन है ठीक इसी प्रकार अबोध बालक भी हितैषी वचनों से ज्ञाप्यमान होता हुआ भी वही प्रयोजक बन सकता है।

रामानुज के मत में आठ वर्ष के बालक में स्थपतिन्याय से पुरुषार्थ कामना सम्भव नहीं है और उस बालक में पूर्वपक्ष में मान्य स्वर्ग की कामना भी नहीं बन सकती - अत: 'परप्रयुक्ति' ही उचित पक्ष बनता है।[२] शालिकनाथ भी[३] यही मानते हैं।

अध्यापन विधि

प्रभाकर-दर्शन में अध्ययन-विधि को एक नई दिशा मिली है। गुरुमत में वेदार्थ-विचार करने के सम्बन्ध में तो कोई संशय ही नहीं है।[४] शालिकनाथ ने इस बात को प्रकरणपञ्चिका में सुस्पष्ट किया है।[५] प्राभाकर परप्रयुक्ति का प्राधान्य मानते हैं अत: शालिकनाथ इसे 'आचार्यकरण'

---

१. ..... परप्रयुक्तिरेवाङ्गीकृता स्यात्। ततो वरं वेदाध्यापनप्रयुक्ति:। तं०र०, पृ० ७०

२. वही, पृ० ७०

३. प्र०पं० (शास्त्रमुख, प्र०), पृ० १२

४. तस्माद्वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य: इति स्थितम्, अथ शब्दप्रयोगसामर्थ्यात्। बृहती, पृ० १३

५. प्र०पं० (शा०मु०प्र०), पृ० १२ से २५ तक

कहते हुए अध्ययनविधि का पर्यवसान अध्यापन-विधि में करते हैं।[१] जिस अध्यापन-विधि का बीजारोपण प्रभाकर मिश्र ने बृहती में किया उसको विविध प्रमाणों एवं तर्कों से शालिकनाथ ने पल्लवित किया उसी अध्यापनविधि की पुष्टि रामानुज ने तन्त्ररहस्य में की है।[२]

अध्यापनविधि का आधार 'उपनयन'

आपदेव के अनुसार उपनयन संस्कार से संस्कृत हुए का ही अध्ययनाधिकार है।[३] गृह्यसूत्रों में ८वें वर्ष में ब्राह्मण बालक को, ११वें में क्षत्रिय बालक को तथा १२वें वर्ष में वैश्य बालक का यज्ञोपवीत (उपनयन) का विधान है और क्रमशः १६, २२ और २४ वर्ष से पहले-पहले यह उपनयन हो जाना चाहिए।[४] मनु के अनुसार ब्राह्मण आदि बालकों का उपनयन क्रमशः ५, ६, ८वें वर्ष में हो जाना चाहिए।[५]

शथपथ ब्राह्मण में[६] ऋतुओं का भी निर्देश किया गया है - तदनुसार ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद ऋतु में उपनयन करना चाहिए इस उपनयन का त्रैवर्णिकाधिकार है - शूद्र को नहीं। इस प्रकार इस अध्यापन विधि के अङ्ग उपनयन का विभिन्न धर्म-शास्त्रों, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्रग्रन्थों में वर्णन मिलता है।[७]

रामानुज ने निम्न स्मृति श्लोक को उद्धृत करके प्रस्तुत विधि का व्याख्यान किया है -

उपनीय तु यश्शिष्य वेदमध्यापयेत् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं न तमाचार्य प्रचक्षते॥[८]

---

१. प्र०पं० (शा०मु०प्र०), पृ० १२
२. तं०र०, पृ० ७० से ७३ तक
३. ..... अध्ययनस्योपनीताधिकारत्वात्। मीमांसा न्या०प्र०, पृ० १८४
४. अश्व०गृ०सू० (१-१९, ६) उद्धृत सं०वि०, पृ० ७८
५. मनु० २-३७
६. शत०ब्रा० उद्धृत संस्कारावधि, पृ० ७९
७. उपनयनस्य चाष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनीयते त्यादिनात्रैवर्णिकाधिकारत्वात्। मी०न्या०प्र० (वा०तो० सहित), पृ० १८५
८. मनु० २-१४०

इस स्मृति वचन के अनुसार उपनयन के बाद अध्यापन के द्वारा आचार्यक को भावित करे यह अध्यापन का स्वरूप है। शालिकनाथ भी यही कहते हैं - 'वेदाध्यापनेनाचार्यकं भावयेदित्येवं रूपः'।[१] बृहतीकार प्रभाकर मिश्र कहते हैं कि अदृष्टार्थ-ताप परिहार के लिए आचार्यकरणविधि ही एक मात्र आश्रय है।[२]

रामानुज के अनुसार अलौकिक आह्वनीयादि के समान ही आचार्यक[३] रूप अध्यापन भी अलौकिक है और पुरुषार्थ भी है, क्योंकि आचार्याय प्रियं धनमाहरेत् 'विहितमाचरेत्' इत्यादि स्मृति एवं औपनिषदिक[४] वचनानुसार घनादि की इच्छा से अध्यापन में प्रवृत्ति होती है और अध्यापन इसकी निष्पत्ति का उपाय है। जैसे दीक्षणीयेष्टि दीक्षितत्त्व का उपाय है वैसे ही वेदाध्यापन से आचार्यत्व की सिद्धि हो जाती है।[५]

रामानुज ने अध्ययनविधि को स्वतन्त्र कहा है। क्योंकि उसका भिन्न प्रकरण में परिपाठ है। फल का अश्रवण होने से प्रारम्भिक अध्ययन निरधिकार होता है। अध्ययन का कोई नियोज्यक भी सिद्ध नहीं होता।[६]

पार्थसारथि ने शास्त्रदीपिका में नियोज्य की सिद्धि तार्किक ढंग से करने की चेष्टा की है[७] लेकिन रामानुज की दृष्टि में अध्ययनविधि से नियोज्य सिद्ध नहीं होता। अध्ययन-अध्यापन के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि विना अध्ययन किये अध्यापन नहीं किया जा सकता।[८]

---

१. तं०र०, पृ० ७१, द्र०- प्र०पं०, पृ० १२
२. बृहती - (पञ्चिका सहित), पृ० १३
३. तं०र०, पृ० ७१ (आचार्य ..... (अक) आचार्य का काम, सं०श०कोष, पृ० १७७
४. आचार्यायप्रियंधनमाहृत्य। तैत्ति० १-१० ईशादिदशो०, पृ० ३४८
५. यथा दीक्षणीयया दीक्षितत्त्वसिद्धिः, तथा वेदाध्यापनेनाचार्यत्वसिद्धिः प्र०पं०, शा०मु०प्र०, पृ० १४
६. तं०र०, पृ० ७१, द्र०- शा०दी०, पृ० १० (पूर्वपक्ष)
७. कार्यं हि विध्यर्थः, सम्बन्धिशब्दश्चायं कार्यमिति, कस्यचिद्धि किञ्चित् कार्यं भवति न सर्वं सर्वस्य, अतः .....यस्येदं कार्यं स एव नियोज्य इत्युच्यते। शा०दी०, पृ० ११
८. तं०र०, पृ० ७१

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि नियोज्य का अभाव अध्यापन विधि में भी हो सकता है तो यह उचित नहीं क्योंकि 'तमाचार्यं प्रचक्षते' यहाँ पर आचार्यक की कामना विना नियोज्य के कैसे होगी?[१]

कार्य दो प्रकार का होता है- १. क्रिया रूप और २. कार्यरूप - इनमें क्रिया में जो गुणभूत है वह 'कर्ता' और कार्य के प्रति जो गुणभूत है वह 'नियोज्य' होता हे। इस कार्य द्वैविध्य के विषय में पिछले अध्याय में कहा जा चुका है।[२]

यहाँ शङ्का होती है कि आचार्यक तो अध्यापन साध्य एवं प्रेरणागम्य है - उसमें कामना कैसे हो सकती है प्रमाणान्तर से प्रतिपन्न अर्थ में ही कामना होती है।

रामानुज की दृष्टि में आचार्यक के अलौकिक होने पर भी शिष्य द्वारा दान दक्षिणा के निमित्त से कामना उपपन्न हो जाती है।[३] यदि यह कहा जाये कि आचार्यक नियोग का फल नहीं किन्तु विषयफल है? रामानुज की दृष्टि में यह स्थिति तो अर्थज्ञान के विषय में भी समान रूप से है - वह भी नियोग का फल नहीं है - इसके अतिरिक्त आचार्यक वाक्य से प्रथम प्रतिपन्न है जबकि अर्थज्ञान प्रथम प्रतिपन्न नहीं है - इसलिए विषमता भी है। यदि यहाँ पर यह शङ्का होती है कि - द्रव्यार्जन के लिए अध्ययन विधि का ही अध्यापन के रूप में 'उपनीय तु०' इत्यादि वचन में अनुवाद है? विरूपता होने से यह भी उचित नहीं है क्योंकि **'अध्यापन विधि'** अपूर्वफल वाली है इतर विधि पुरुषार्थनियम से युक्त है। अध्यापन-विधि आचार्यफलक है अध्ययन विधि (अर्थज्ञान) द्रव्यप्राप्ति फलवाली है - द्रव्य तो याजनादि के द्वारा भी सम्पादित हो सकता है।[४]

१. तं०र०, पृ० ७१

२. प्र०पं०, पृ० ४४१ (द्र०- टि० २)
कार्यत्वेन नियोज्य च स्वात्मनिप्रेरयन्नसौ। नियोग इति मीमांसा निष्णातैरमिधीयते। वा०मा० द्वि० परि० (२६)

३. तं०र०, पृ० ७१

४. तं०र०, पृ० ७१

प्रयोजनविषयक पार्थसारथि की शङ्का

शङ्का यह है कि आचार्यक की सिद्धि ही अध्ययन का प्रयोजन होना चाहिए अथवा अर्थज्ञान? इस विषय में पार्थसारथि आचार्यत्व को बहिर्गामी होने से प्रयोजन नहीं मानते अर्थज्ञान माणवकगामी होने से उसी को अध्ययन का प्रयोजन माना है।[१]

रामानुज द्वारा सिद्धान्त-स्थापन

यद्यपि प्रयोजक विधि पूर्वभावी है उसे ही प्रयोजन मानना चाहिए तथापि केवल उसी को प्रयोजन नहीं माना जा सकता - क्योंकि वह बहिरंग है। कर्तृगामी होने से अर्थ ज्ञान को ही प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया जाता है। क्योंकि 'यत्कर्तृकं हि यत्कर्म तस्यैव तत्प्रयोजनं युक्तम्।'[२] यहाँ शङ्का यह होती है कि क्या विधि सिद्धि प्रयोजन नहीं है? इसी शङ्का के परिहार से रामानुज का मत पार्थसारथि से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि रामानुज की दृष्टि में अध्यापन विधि से दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं। यहाँ पर पार्थसारथि शङ्का करते हैं कि एक ही अध्यापन विधि के दो साध्य कैसे हो सकते हैं?[३]

रामानुज उक्त शङ्का के परिहार में शब्द से विधि-सिद्धि रूप प्रयोजन मानते हैं और अर्थ ज्ञान-सिद्धि स्वीकार करते हैं इसलिए विरोध का प्रश्न ही नहीं बनता।[४]

रामानुज के मत में अर्थ-ज्ञान का अधिकार अध्ययन से पूर्व अज्ञात रहता है, कालान्तर में अवगत होता है। पश्चात् उस अर्थ के बोध से

---

१. किमाचार्यकसिद्धिरेवाध्ययनस्य प्रयोजनम्? उतार्थज्ञानम्? इति विचार्य्य, अन्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमित्याहुः। शा०दी०, पृ० ८

२. तं०र०, पृ० ७२

३. ..... आचार्यकप्रयोजनता, अर्थज्ञानप्रयोजनता वा न शक्यते शास्त्रेण बोधयितुम्, साध्यद्वयस्यैकत्रासंभवात्। शा०दी०, पृ० ९

४. नन्वेकस्मिन् विषये प्रयोजनद्वयं विरुद्धमिति चेत्, न ।
एकस्य शाब्दत्वादितरस्य चार्थत्वात्। तं०र०, पृ० ७२

'मदर्थमिदमध्ययनमिति' अध्येता का ही उस पर अधिकार है- ऐसा ज्ञान होना ही अध्ययन का प्रयोजन है[१] और साक्षाद् रूप से गुरुमुख से पढ़ना अध्यापन-विधि है।[२]

इस प्रकार रामानुज के अनुसार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' में अध्यापन विधि से विधि सिद्धि और अर्थज्ञान-सिद्धि दोनों का संग्रहण है। विधि का प्रामाण्य भी मीमांसा पर आधारित है अतः वेदाध्ययन के बाद शास्त्र-विचार आरम्भ करना चाहिए - यह सिद्ध है।[३]

१. तं०र०, पृ० ७३
२. साक्षादधीतस्त्वध्यापनविधिः। तं०र०, पृ० ७२
३. तं०र०, पृ० ७३

उपसंहार

- प्राभाकराणां विचार निष्कर्षः -

अस्मिन्नालेखे प्राभाकर दर्शनस्य विचाराः सरलभाषायां प्रस्तुताः सन्ति। भावास्तु सर्वेषामेव ज्ञातव्याः सत्यं तु सत्यमेव। सत्यमेवाचरणीयम्। 'सत्यमेव जयते।'

सर्वप्रथम प्रमाणों तथा प्रामाण्यवाद पर विचार किया गया है याथार्थ्य प्रमाण का लक्षण नहीं है क्योंकि यह तो स्मृति में भी होता है अतः स्मृति रहित अनुभूति ही प्रमाण का लक्षण माना गया है। प्रभाकर-दर्शन प्रत्येक ज्ञान को यथार्थ मानता है। ज्ञान और वह मिथ्या हो - यह कथन प्रकाश को ही अन्धेरा बताने के समान विरुद्ध है। ज्ञान का बाध नहीं होता व्यवहार ही बाधित होता है, रजत, पीत-शंख आदि अनेक उदाहरणों से इस सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। ज्ञान स्वयं प्रकाश है। प्रामाण्य भी स्वतः ही गृहीत होता है।

प्रत्याक्षादि पाँच प्रमाण माने गये हैं अभाव का प्रमेय न होने से तथा अधिकरण स्वरूप होने से उसे अलग से प्रमाण नहीं स्वीकार किया है। नैयायिकाभिमत प्रत्यक्षलक्षण का खण्डन करते हुए साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष का लक्षण स्थापित किया गया है। अनुमान में प्रतिज्ञा आदि प्रारम्भ के तीन ही अवयव सार्थक है। वैधर्म्य-दृष्टान्त को अनुमाङ्ग नहीं माना गया। उपमान में 'गो सदृशो गवयः' की अपेक्षा 'अनेन सदृशी मदीया गौ' को ही उपमित कहा है। अर्थापत्ति के दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति नामक भेद-द्वय को दृष्टार्थ में ही समाहृत करके इसे सन्देह का व्यावर्तक प्रमाण माना गया है।

प्रमेयों के विश्लेषण में प्रभाकर मतानुसार पदार्थ आठ माने गये हैं। शक्ति, सङ्ख्या और सादृश्य अलग से पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। शब्द और तम को द्रव्य नहीं माना गया है। 'तम' तो छाया मात्र ही है। शरीरारम्भक रामानुज के मतानुसार पृथ्वी को ही सिद्ध किया गया है। वायु का प्रत्यक्ष

प्रत्यभिज्ञा से होता है। आत्मा मानस प्रत्यक्ष वेद्य नहीं है क्योंकि एक ही आत्मा में कर्म-कर्तृ-भाव नहीं बन सकता। प्रत्येक ज्ञान में आत्मा का ज्ञान भी बना रहता है। कर्म संयोग-विभाग से अनुमेय है - प्रत्यक्ष नहीं। ग्रन्थकार के आधार पर व्यक्ति की प्रतीति में ही जाति का भी प्रत्यक्ष होता है और वह पूर्वाकारावमर्श द्वारा ज्ञात होती है। शक्ति, सादृश्य और संख्या को अलग से द्रव्य सिद्ध किया गया है। भोक्ता, भोगायतन, भोगसाधन, भोग्य और भुक्ति इन पाँच कोशों में समाहित प्रमेयों की विश्रान्ति ही मोक्ष है और सकल दु:खों का उच्छेद होने से वह परम पुरुषार्थ है।

इसके पश्चात् शब्द-प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। शब्द उत्पन्न नहीं होता प्रयत्न से अभिव्यक्त होता है। रामानुज के मत से शब्द में प्रत्यभिज्ञा दिखाते हुए नित्य सिद्ध किया है। शब्दार्थ सम्बन्ध वृद्ध व्यवहार के आधार पर अनादि और अपौरुषेय माना गया है अर्थ को प्रवाह से नित्य माना गया है। पद से पदार्थ और वाक्यार्थ बोध में नैयायिक, वैयाकरण तथा भाट्टों का परिहार करते हुए अन्विताभिधान को परिपुष्ट किया गया है। कुमारिल पदार्थ और वाक्यार्थ को अलग मानते हैं। रामानुज के अनुसार पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है अर्थातृ वृद्ध व्यवहार से शब्द-शक्ति-ग्रह स्व-अर्थ में ही अन्वित होता है। वह स्व-अर्थ में अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है - अत: अन्विताभिधान को दृढ़ करते हुए अभिहितान्वयवाद का परिहार किया गया है। एक पद से अन्य पदों के समन्वय का प्रसंग न आये इसलिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से अन्वित होकर पद अपने अर्थों का अभिधान करते हैं यह सिद्ध किया गया है। वेदकी अपौरुषेयता के सम्बन्ध में विविध शंकाओं का परिहार करके उन्हें अपौरुषेय ही दृढ़ किया गया है। लौकिक और अलौकिक भेद से शास्त्र दो प्रकार का माना गया है अलौकिक शास्त्र भेद प्रत्यक्ष तथा लौकिक 'स्मृति' आदि को अनुमान रूप में स्पष्ट किया गया है। सम्पूर्ण शास्त्ररूप (शब्द प्रमाण) को कार्य परक दिखाया गया है।

विधि के प्रसंग में अपूर्व रूप कार्य को ही लिङादि का वाच्य स्वीकार किया गया है। कुमारिल मतानुसार एक ही विधि प्रत्यय से दो

भावनाओं के ग्रहण को दुर्घट होने से उसका परिहार करके लिङादि से कार्यपरत्व और भावनापरत्व को ही पुष्ट किया गया है। कुमारिलाभिमत भावना के सर्वस्व का, तदनुयाइयों की इष्ट साधनता का, प्रत्यय मात्र के व्यापार होने का तथा प्रेरणा को विध्यर्थ मानने का प्रत्याख्यान करके लिङादि को अपूर्व रूप कार्य परक ही माना गयाहै। 'स्वर्ग कामो यजेत' इस वाक्य को सुनकर प्रथम तो यह ज्ञान होता है कि मुझे स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिए - ऐसा बोध होने पर बौद्धतया अन्विति 'नियोज्यत्व' है - ज्ञान के बाद 'मैं इस कार्य में नियुक्त किया गया हूँ' - यह 'नियोग' है - यह सब कार्य की प्रधानता में ही हो रहा है - पुरुष गुणीभूत होकर कार्य के प्रति ही समर्पित है। इस प्रकार कार्य की ही प्रधानता रहती है भावना इत्यादि गौण है। अतः लिङादि प्रत्यय साक्षात् रूप से इस अपूर्व रूप कार्य में ही तत्पर है।

वेदाध्ययन के बाद धर्म-जिज्ञासा अथवा वेदार्थ-विचार करना चाहिए- इस बात को सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं लेकिन नियमतः करने के विषय में विसंवाद है।

शास्त्रारम्भ के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों के अनुसार वेदाध्ययन के बाद मीमांसा विचार नियमतः प्रारम्भ किया जाना आवश्यक नहीं माना जाता - उन सब को पूर्व पक्ष में रखकर सिद्धान्ततः वेदार्थ विचार को नियमत शुरू करना चाहिए इस धारणा को दृढ़ किया गया है। इसके पश्चात् कुमारिल सम्मत अध्ययन विधि का परीक्षण किया है। कुमारिल ने वाक्यार्थ ज्ञान को अध्ययन का भाव्य माना है। पार्थसारथि की दृष्टि में अर्थ ज्ञान मात्र ही अध्ययन का प्रयोजन नहीं है - अपितु अध्ययन साध्य सभी इष्ट-फल प्राप्त किये जा सकते हैं। वस्तुतः परप्रयुक्ति के बिना अध्ययन अधूरा है इसलिए प्रभाकर मतानुसार अध्ययन की अपेक्षा अध्यापन विधि सर्वोत्तम मार्ग है। 'उपनीय तुयः' इस स्मृति वचन के अनुसार अलौकिक आचार्यक को प्राप्त होना चाहिए। इस अध्यापन विधि से विधि-सिद्धि और अर्थज्ञान दोनों संगृहीत हैं। अतः वेदाध्ययन के बाद अध्यापन-विधि से वेदार्थविचार करना चाहिए यह प्राभाकरीय मान्यता का निष्कर्ष है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. *अष्टाध्यायी* : पाणिनि, परिष्कर्ता - डॉ० श्री गोपाल शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी.

२. *अर्थसंग्रह* : लौगाक्षिाभास्कर, पण्डितराज पट्टाभिराम शास्त्री कृत 'अर्थालोक', हिन्दी व्याख्या : डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली.

३. *ईशादिदशोपनिषद्* : शाङ्कर भाष्य सहित, शङ्कराचार्य ग्रन्थावली, प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६४.

४. *किरणावली* : उदयनाचार्य, सम्पादक : जितेन्द्र एस० जेतली, डाइरेक्टर इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९७१.

५. *छान्दोग्य उपनिषद्* : कृते - राजपाल एण्ड सन्स, बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड़, लाहौर से प्रकाशित.

६. *तर्कसंग्रह* : नृसिंहरदेव शास्त्री की बालबोधिनी टिप्पणी सहित, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरिया गंज, दिल्ली-६.

७. *तर्कसंग्रहदीपिका* : आचार्य आनन्द झा, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, उ०प्र०, सन् १९७६.

८. *तत्त्वचिन्तामणि* : गङ्गेशोपाध्याय, केन्द्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति, १९७३.

९. *तर्कभाषा* : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि कृत 'तर्क रहस्य दीपिका' सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस-१, १९५३.

१०. *तर्कभाषा* : केशव मिश्र (डॉ० गजानन शास्त्री), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, सन् १९८४.

११. *नयविवेक* : भगनाथ मिश्र, रविदेव कृत विवेकतत्त्व सहित, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३७.

१२. *न्यायकुसुमाञ्जलि* : उदयन, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि कृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२.

१३. *न्यायकुसुमाञ्जलि* : उदयन, श्री दुर्गाधर झा, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७३.

१४. *न्याय दर्शन* : सम्पा० नारायण मिश्र, प्रकाशिका हिन्दी व्याख्या ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.

१५. *न्यायदर्शनम्* : सम्पा० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी-१.

१६. *न्यायमञ्जरी* : जयन्त भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, वाराणसी-१.

१७. *न्यायरत्नमाला* : पार्थसारथि मिश्र, सम्पा० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी.

१८. *न्यायरत्नमाला* : रामानुज कृत नायकरत्न व्याख्या सहित, सम्पा० बी० भट्टाचार्य, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३७.

१९. *न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली* : विश्वनाथ पञ्चानन, किरणावली सहित (श्री कृष्ण वल्लभाचार्य), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.

२०. *न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली* : डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (हिन्दी व्याख्या), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९७७.

२१. *पदार्थशास्त्र* : पं० आनन्द झा, हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५.

२२. *परमलघुमञ्जुषा* : नागेशभट्ट, अखिलदेव शर्मा कृत तत्त्वप्रकाशिका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, वाराणसी, १९७४.

२३. *पातञ्जजलयोगदर्शन* : पतञ्जलिकृत, व्यास भाष्य सहित, भारतीय विद्या प्रकाशन, २२।३९ पञ्चगंगाघाट, वाराणसी.

२४. *प्रकरणपञ्चिका* : शालिकनाथ मिश्र, श्री सुब्रह्मण्यम् शास्त्री द्वारा सम्पादित, न्याय सिद्धि व्याख्या सहित, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित एवं मुद्रित, १९६१.

२५. *प्रभाकरविजय* : आचार्य नन्दीश्वर कृत, संस्कृत साहित्य परिषद्, खान बाज़ार, कलकत्ता.

२६. *प्रमाणवार्तिक* : धर्मकीर्ति, बौद्धभारती, वाराणसी, उत्तर प्रदेश.

२७. *प्रशस्तपाद भाष्य* : सम्पा० डॉ० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, श्रीधरभट्ट प्रणीत न्यायकन्दली व्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७.

२८. *प्रशस्तपाद भाष्य* : महर्षि प्रशस्त-देवाचार्य कृत प्रकाशित व्याख्या आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री.

२९. *ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य* : स्वामी श्री हनुमानदास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी.

३०. *बृहती* : प्रभाकर मिश्र, शाबर भाष्य एवं शालिकनाथ कृत, ऋजुविमलापञ्चिका सहित, सम्पा० सं० कृ० रामनाथ शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३४.

३१. *भाट्टार्क* : नीलकण्ठ, गंगानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, १९८०.

३२. *भाट्टचिन्तामणि* : गा गा भट्ट, सम्पादक श्री सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९३३.

३३. *भारतीयदर्शनपरिचय (वैशेषिक दर्शन द्वि० भाग)*, प्रो० हरिमोहन झा, पुस्तक भण्डार, लाहेरिया सराय.

३४. *भारतीय अर्थ विज्ञान* : श्री हरिसिंह सेंगर, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, १९७८.

३५. *भारतीय दर्शन* : उमेश मिश्र, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९५७.

३६. *भारतीय-दर्शन* : पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, सप्तम संस्करण.

३७. *भारतीयदर्शन की रूपरेखा* : हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली-६, १९७३.

३८. *भारतीय न्याय शास्त्र* : ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, ७।३, रूपनगर, दिल्ली-७, १९६७.

३९. *मनुस्मृति* : सं० पं० गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, वाराणसी, १९७०.

४०. *मीमांसादर्शनविमर्श* : डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी, १९७६.

४१. *मीमांसादपर्शनम् तर्कपाद* : उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी.

४२. *मीमांसादर्शन – टुप्टीका एवं शाबर भाष्य सहित* : जैमिनि, सम्पा० विनायक गणेश आप्टे, १९३२, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थ नं० ९७.

४३. *मीमांसान्यायप्रकाश* : आचार्य पं० पट्टाभिराम शास्त्री (बालतोषिणी हिन्दी व्याख्या सहित), सम्पा० डॉ. मण्डन मिश्र, श्री लाल बहादुर शास्त्रि, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली–१६.

४४. *मीमांसापरिभाषा* : श्री कृष्णयज्व रचित दीपिका सहित, मैनेजर शारदा भवन, ६३, अगस्त कुण्डा, बनारस, विक्रमाब्द १९९२.

४५. *मीमांसाप्रदीप* : गंगाप्रसाद उपाध्याय, ट्रैक्ट विभाग, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद, १९६१.

४६. *मीमांसा श्लोक वार्तिक* : कुमारिल रचित, पं० दुर्गाधर झा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत वि०वि०, दरभंगा, प्र०सं०, १९७९.

४७. *वाक्यपदीय सम्बन्ध समुद्देश* : डॉ० वीरेन्द्र शर्मा, होशियारपुर, पंजाब यूनिवर्सिटी होशियारपुर, १९७७.

४८. *वाक्यार्थ मातृका* : ब्रह्म मिश्र अवस्थी, दीपिका हि० व्याख्या सहित, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली–७, विक्रम संवत् २०३६.

४९. *विधिविवेक* : मण्डन मिश्र, सं० महाप्रभुलाल गोस्वामी न्याय कणिका सहित, तारा पब्लिकेसन्स, वाराणसी, १९७८.

५०. *वेदनित्यता तथा ऋषि दयानन्द* : श्री निवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९८२.

५१. *वेदान्तसार* : राममूर्ति शर्मा, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नई दिल्ली–२.

५२. *वेदान्त परिभाषा* : धर्मराज अध्वरीन्द्र रचित, श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर कृत, 'प्रकाश' हिन्दी व्या० सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, वाराणसी-१, १९६९.

५३. *शब्दार्थ विमर्श* : देव नारायण मिश्र, साहित्य भण्डार, सुभाषा बाज़ार, मेरठ.

५४. *शास्त्र दीपिका* : पार्थसारथि मिश्र, सम्पादक - डॉ० किशोरदास स्वामी, साधुवेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी.

५५. *श्लोक वार्तिक* : कुमारिल भट्ट, सं० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी-१, १६७८.

५६. *सप्तपदार्थी* : शिवादित्य, सं० श्री वी०एस० घाटे, एल्फिन्सटोन कॉलेज, बम्बई, द्वि०सं० १९१९.

५७. *सप्तपदार्थी* : सम्पा० श्री अमरेन्द्र मोहन, तर्कतीर्थ तथा नरेन्द्र चन्द्र वेदान्ततीर्थ, कलकत्ता संस्कृत सीरिज़, १९३४.

५८. *सर्वदर्शनसंग्रह* : माधवाचार्य कृत, सं० श्री उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र०सं० १९६४ (तृतीय सं०, १९८४).

५९. *संस्कार विधि* : स्वामी दयानन्द, परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, २१वाँ संस्करण, सं० २००३.

६०. *सांख्य तत्त्व कौमुदी* : वाचस्पति मिश्र, सं० रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७६.

६१. *सांख्य दर्शन (साङ्ख्य प्रवचन भाष्य समेत)* : ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९८५.

६२. *सांख्यसूत्रम्* : विज्ञान भिक्षु कृत भाष्य सहित, प्रकाशन : भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, दिल्ली, द्वि०सं० १९७७.

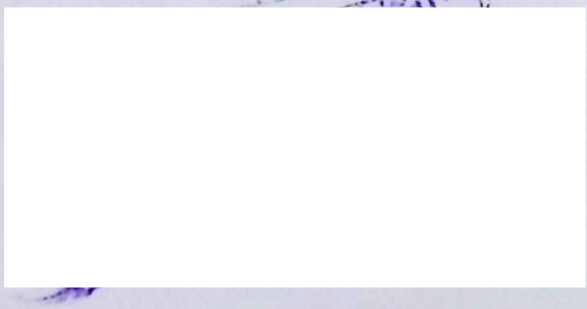

डॉ. सत्यकाम शर्मा वेदालंकार

पिता	:	पं. कुशलराम शर्मा
जन्म	:	12 जून, 1955
स्थान	:	ग्राम ढाणी भालोठ, जिला-झुन्झुनूँ, राजस्थान।
शिक्षा	:	गुरुकुल कांगड़ी से-वेदालंकार, तथा एम.ए. (संस्कृत), दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.फिल्,पी-एच.डी.
वर्तमान में	:	वरिष्ठ एसो. प्रोफेसर, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय। अध्यापन-गत 27 वर्षों से इसी कॉलेज में अध्यापन कार्यरत।

वेद, उपनिषद्, दर्शनादि विषयों में आपकी रुचि है। एतत् सम्बन्धी अनेक आलेख, शोध पत्र आपने लिखे तथा शोध गोष्ठियों में प्रस्तुत किये। आपके कई आलेख एवं शोध पत्र ऑन-लाईन अन्तर्राष्ट्रिय मूल्याङ्कित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आप अनेक राष्ट्रिय एवं अन्तर्राष्ट्रिय (साउथ अफ्रीका, सिंगापुर, थाईलैंड, बैंकॉक, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, इत्यादि देशों में होने वाली) शोध परिषदों, गोष्ठियों एवं वैदिक महासम्मेलनों में शामिल हुए तथा शोध पत्र प्रस्तुत किये हैं।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें :

1. मीमांसा दर्शन के प्रभाकर मतानुयायी : रामानुजाचार्य कृत तन्त्ररहस्य का अध्ययन।
2. योग के साधनों पर विचार (योगसूत्र एवं योगप्रदीपिका के अनुसार)।
3. आर्य समाज हड़सन लाईन का परिचय एवं गुरुकुल की नियमावली।
4. संस्कृत-वाङ्मय विमर्श : आलेख-संकलन (प्रकाशनाधीन)।

भारतीय विद्या प्रकाशन
1 यू.बी., जवाहर नगर, बंगलो रोड, पो. बॉक्स नं. 2144, दिल्ली-110007
फोन : 011-23851570 मो. : 09810910450, 09968334546
e-mail : bvpbooks@gmail.com

ISBN 8121703131

₹ 500

शाखा कार्यालय : 1. 5824, न्यू चन्द्रावल (नजदीक शिव मन्दिर), जवाहर नगर, दिल्ली-110007
2. पोस्ट बॉक्स 1108, सी.के. 32/30, नेपाली खपड़ा, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)
फोन : 0542-2392376, मो. : 09415202477, 78